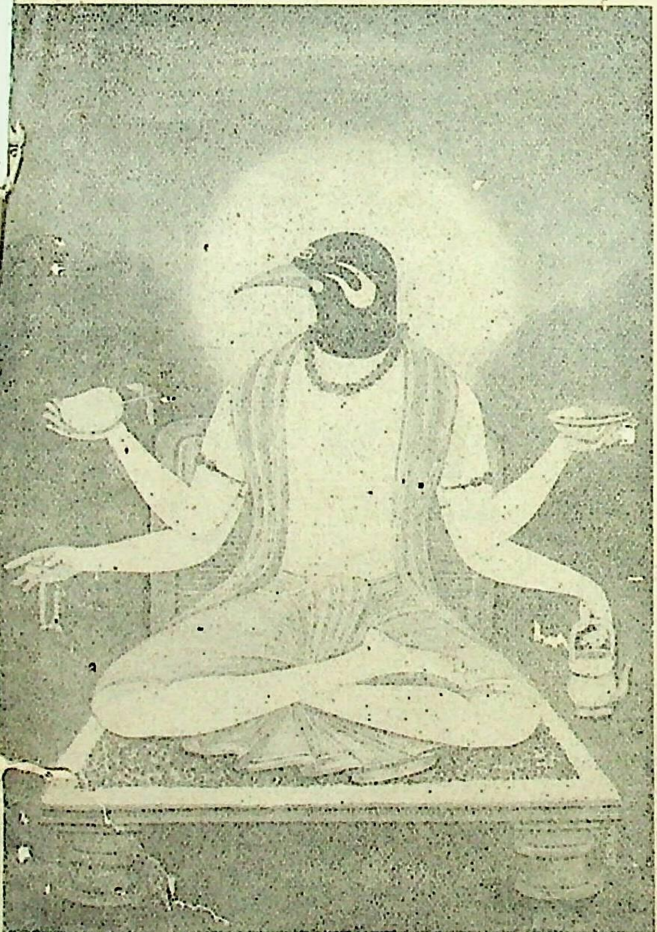
3.5

राजनीति शास्त्र



अर्थशास्त्रं भवेद्गौरं सारिकावदनं शुभम् ।
अक्षसूत्रं फलं बिभ्रदन्नहारं कमण्डलुम् ॥

प्रस्तावना

यह छोटी-सी पुस्तक दो भागों में विभक्त है। पहले भाग में 'गीर्वाण-वाग्वर्धिनी सभा' के संरक्षक पंडितराज श्री राजेश्वर शास्त्री द्राविड द्वारा, भारतीय राजनीति सम्बन्धी कुछ प्रमुख विषयों पर गतवर्ष संस्कृत में दिये गये व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद है। और दूसरे में श्रीगणेशसहस्रनाम है।

(२) पण्डितराज श्री राजेश्वर शास्त्री जी का वैदिक-विद्या-व्यासंग और उस पर अधिकार भारत में सर्वविश्रुत है। गतवर्ष महाराष्ट्र की कतिपय संस्थाओं ने उन्हें बड़े आदर के साथ आमन्त्रित कर, राजनीति विषय पर उनके व्याख्यान करवाये। श्री शास्त्री जी गत ९-१० वर्षों से राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन सतत चला रहे हैं। यतः उनका भारतीय विद्याओं का साङ्गोपाङ्ग परिशीलन आजन्म अविरत रूप से चला आ रहा है, अतः उनकी बुद्धि अत्यन्त स्फीत हुई है। उनके जैसे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र विद्वान् द्वारा बड़े परिश्रम से सङ्गृहीत राजनीति शास्त्र का ज्ञान-भण्डार केवल ४-६ व्याख्यानों की सीमित अवधि में अशेष रूप से खोलकर दिखा दिया जायगा, यदि कोई ऐसी अपेक्षा करे, तो वह निश्चय ही गलत सिद्ध होगी।

(३) श्री शास्त्रीजी ने अपने इन व्याख्यानों के लिए राजनीति शास्त्र के दो-चार प्रमुख मुद्दे चुने और उन्हीं मुद्दों पर उन्होंने करीब ४—६ स्थानों पर व्याख्यान दिये। शास्त्रीजी के उन व्याख्यानों का सारांश, उपर्युक्त गीर्वाण-वाग्वर्धिनी सभा के एक उत्साही सदस्य पण्डित श्री विश्वनाथ शास्त्री दातार ने उन-उन सभाओं में ही मराठी भाषा में अनूदित कर श्रोताओं को सुनाया था। काशी लौटने पर श्री दातार शास्त्री ने उक्त सारांश मराठी निबन्ध के रूप में लिख डाला। भारतीय राजनीति विषयक यह छोटा-सा प्रबन्ध राष्ट्रभाषा प्रेमी विद्वानों के अवलोकनार्थ प्राप्य करने का निश्चय कर सभा ने हिन्दी साहित्य के सेवक ख्यातनामा पण्डित श्री रघुनन्दनप्रसाद शुक्ल 'अटल' से उसका हिन्दी अनुवाद करने का अनुरोध किया। श्री शास्त्रीजी के प्रति अपार भक्ति होने के कारण श्री शुक्लजी ने तत्काल उसका अनुवाद करना स्वीकार कर लिया।

तदनुसार १९-२० दिनों के सतत परिश्रम से उसका यह हिन्दी-रूपान्तर तैयार किया गया। महाराज काशी नरेश श्री विभूतिनारायण सिंह बहादुर ने, सभा और श्री शास्त्रीजी पर प्रेम होने से, इसके प्रकाशन में सहयोग और सत्परामर्श देने की कृपा की। प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन का यह संक्षिप्त इतिवृत्त है।

(४) सम्प्रति वैदिक विद्याओं एवं कलाओं का बड़ी ही तेजी से ह्रास हो रहा है। यद्यपि आज भी कहीं कहीं वेदों की कतिपय शाखाओं, वेदाङ्गों, न्यायादि षड्दर्शनों, व्याकरण-आयुर्वेद आदि शास्त्रों एवं कलाओं के अध्ययन की परम्परा चलती दिखाई पड़ती है, फिर भी समाज के व्यावहारिक जीवन के लिए नित्योपयोगी अन्य अधिकतर विद्याओं और कलाओं की परम्पराएँ पहले से ही समय समय पर नष्ट हो चुकी हैं। इसका मुख्य कारण दीर्घकाल से वेदानुयायी भारतीयों के हाथ से उस राजदण्ड का वास्तविक अधिकार चला जाना है, जो सामाजिक जीवन-नियमन का अंकुश हुआ करता है। भारत में मुसलिम शासन शुरू होने के बाद से राजनीति शास्त्र का साङ्गोपाङ्ग ऊहापोह करनेवाले ऐसे आकर-ग्रन्थ या टीका-ग्रन्थ बहुत ही कम निर्मित हुए होंगे, जो महाभारत के राजधर्म-प्रकरण, कौटलीय अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, कामन्दकीय नीतिसार या जयमङ्गला और उपाध्याय-निरपेक्षा जैसी उसकी टीकाओं की कोटि में रखे जा सकते हैं।

(५) वैदिक-परम्परानुसार हिन्दू-राजाओं के मन्त्री-पुरोहित शास्त्र-पारंगत और विद्वान् होने चाहिये। भारत में मुसलिम शासन स्थापित होने तक राजकीय व्यवहार प्रायः इसी के अनुसार चलता रहा। फलतः यह कहने में कोई हर्ज नहीं कि तब तक राजनीति का शास्त्राध्ययन और तदनुसारी राजकीय व्यवहार से मेल अविच्छिन्न रूप से जारी रहा। किन्तु मुसलिम शासन-काल से वैदिक विद्वानों का राजकीय व्यवहार से पार्थक्य हो गया और उससे वेदोत्थित राजनीति शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा ही क्रमशः इस देश से मिट चली। यही कारण है कि इस शास्त्र पर नये-नये भाष्य-टीका आदि ग्रन्थों का निर्माण और शास्त्रों का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान रखनेवाले पण्डितों का देश में अस्तित्व—ये दोनों बातें लुप्त हो गयीं। पुण्यश्लोक श्रीशिवाजी महाराज के मन्त्री श्रीरामचन्द्र पन्त अमात्य के 'आज्ञापत्र' या 'राजनीति' (ग्रन्थ) जैसे, अपने कालमें राजकीय व्यवहार से मिलान

कर उनकी युक्तायुक्तता की तात्त्विक मीमांसा करनेवाले राजनीति ग्रन्थ कामन्दकीय नीति सार की टीका के बाद बने हों, ऐसा प्राय: दिखाई नहीं पड़ता।*

(६) इस प्रकार इस युग में, जब कि भारतीय राजनीति शास्त्र की अध्ययन-परम्परा पूर्णत: लुप्त होकर सैकड़ों वर्ष बीत चुके हैं, श्री शास्त्रीजी को अपनी विद्या और प्रतिभा की असाधारण सामर्थ्य से इस शास्त्र के अध्ययन की प्रथा पुन: नये सिरे से चालू करनी पड़ी है। उनके व्याख्यानों का अध्ययन करनेवालों को इस बात का पूर्ण विश्वास हो जायगा कि यदि 'राजनीति' शास्त्र के प्रमेयों का भली भाँति रहस्य समझना हो तो पूर्वोत्तर मीमांसा, प्रत्यभिज्ञादर्शन सहित सभी दर्शन, धर्मशास्त्र-व्याकरण-साहित्य आदि सभी शास्त्र एवं पुरुषार्थ विद्या, साधारण सामाजिकों को वैदिक जीवन के बोधक लोकप्रिय साधन पुराण-काव्य-इतिहास-नाटक आदि तथा आज के राजनैतिक व्यवहार——इन सभी का सहारा लेना होगा। अन्यथा, राजनीति का वास्तविक रूप प्रकट न होकर विकृत रूप ही प्रकट होगा। आज इस शास्त्र के अध्ययन की लुप्त परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का अधिकार उसी पंडित को हो सकता है जिसकी अन्यान्य वैदिक विद्याओं में अनन्य साधारण गति हो।

---

*वैसे देखा जाय तो संस्कृत में राजनीति शास्त्र पर करीब ५०।७५ निबन्ध ग्रन्थ सहज ही मिलेंगे। किन्तु इन निबन्धग्रन्थों में शास्त्र का राजकीय व्यवहार से मेल बैठाकर विचार कम दिखाई पड़ता है। इसका एकमात्र कारण, जैसा कि ऊपर बताया गया है, उनका राजकीय व्यवहार से कुछ भी सम्बन्ध शेष न रहना ही है। अंग्रेजी शासन के बाद (विशेषत: कौटलीय अर्थशास्त्र की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध होने के बाद) आज पचीस-तीस विद्वानों के भारतीय राजनीति शास्त्र पर ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। किन्तु, इन ग्रन्थकारों का जैसा आधुनिक राजनीति-शास्त्र का अध्ययन है वैसा भारतीय राजनीति के बारे में नहीं दीखता। फलत: उनके द्वारा चित्रित भारतीय राजनीति का स्वरूप भी बहुत अंशों में विकृत-सा ही बन पड़ा है।

(७) 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' का सिद्धान्त है कि "सनातन वैदिक पद्धति से सामाजिक जीवन संघटित करने के लिए इस मार्ग पर नितान्त निष्ठा रखने वाले समाज का यह कर्तव्य है कि वह शास्त्रोक्त मार्ग से राज्य-स्थापना करे, और वैदिक मार्गानुकूल राज्यस्थापना के लिए सर्वप्रथम सर्वत्र विद्या-स्थापना का कार्य हाथ में ले।" राज्यशास्त्र का विवेचन आरंभ करते समय कौटिल्य ने सर्वप्रथम 'विद्यासमुद्देश' प्रकरण रचकर कहा है कि 'राज्यनिर्माण के इच्छुक समाज में सर्वप्रथम आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—इन चार विद्याओं की स्थापना होनी चाहिए'। 'कामन्दक' ने भी यह कहकर कि,

'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
विद्याश्चतस्र एवैता लोकसंस्थितिहेतवः ॥'

राजपुरुषों को उपदेश दिया है—

'आन्वीक्षिकीं त्रयीं वार्तां दण्डनीतिञ्च पार्थिवः ।
तद्विद्यैस्तत्क्रियोपेतैश्चिन्तयेत् विनयान्वितः ॥'

अर्थात् विनीत राजा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति को उनके जानकार अनुष्ठाताओं व विद्वानों के साथ विचार करे।

(८) ईशतत्त्व, मानवसहित भासमान सम्पूर्ण चराचर सृष्टि और ईशतत्त्व के परस्पर सम्बन्ध, तथा मानव-जीवन सम्बन्धी ईश्वरीय इच्छाओं का ज्ञान मानव को एक मात्र वेदों एवं वेदप्रसूत विद्या और कलाओं से ही होता है, अन्य किसी भी ज्ञापक हेतु से नहीं होता—यह वैदिकों का अन्तिम सिद्धान्त है। वेदानुयायी समाज की यह प्रामाणिक श्रद्धा है कि **'तदैक्षत । बहु स्यां प्रजायेय'** इस श्रुति से ज्ञात होता है कि ईश्वरेच्छा से ही इस चराचरकी सृष्टि (उत्पत्ति) हुई है। इस सृष्टि में मानव समाज की धारणा चाणक्यमुनि प्रतिपादित उपर्युक्त वेदप्रसूत आन्वीक्षिकी आदि चार विद्याओं के अधिकारानुरूप प्रचार और तदभिमत राज्य-स्थापना एवं राज्य संचालन करने पर ही हो सकती है। 'आन्वीक्षिकी' आत्म-विद्या, (न्याय विद्या) का नाम है। 'त्रयी' का अर्थ है, सामाजिकों के व्यक्तिगत एवं सामुदायिक जीवनक्रम समझने की विद्या। 'वार्ता' कृषि, उद्योग-धन्धे, व्यापार, पशुपालन आदि से संम्बद्धित विद्या को कहते हैं। और 'दण्डनीति' है, राज-

कीय व्यवहार सम्बन्धी विद्या, जिसके प्रयोग से आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता इन विद्याओं के अनुसार चलनेवाले सामाजिक व्यवहारों का संरक्षण एवं संवर्धन होता रहता है, जैसा कि कौटिल्य (१–४–४,५) ने कहा है—

आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो
दण्डः तस्य नीतिर्दण्डनीतिः ।'

(९) यद्यपि हमारे देश पर से विदेशी सत्ता मिट गयी फिर भी देश में वेदानुयायी समाज को अभिमत उस आदर्श राज्य-व्यवस्था की स्थापना आज भी होनी बाकी है, जो सच्चे अर्थ में मानव-जीवन में एकात्मता निर्माण कर समाज को शान्ति एवं उन्नति के पथ पर अग्रसर करती है। भारतीय राजनीति का मूल उद्देश्य यही है कि सुयोग्य राज्य-व्यवस्था और दण्ड-प्रयोग का निर्माण कर, उसके द्वारा राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का ऐहिक जीवन सफल करते हुए उसे आत्म-दर्शन के पथपर पहुँचा दिया जाय। आज के युग में यह उद्देश्य सफल करने के लिए इन चतुर्विध विद्याओं का प्रचार करना ही पहला कदम माना जायगा।

(१०) इन विद्याओं में दण्डनीति (राजनीति) और वार्ता—इन दो विद्याओं की अध्ययन-परम्परा दीर्घ काल से लुप्त हो गयी है, यह ऊपर कहा ही जा चुका है। किन्तु आन्वीक्षिकी या आत्मविद्या और त्रयी या वेद, स्मृति, इतिहास, पुराणादि धर्मशास्त्रों की परम्परा अभी साँस ले रही है। वैदिक मार्ग पर पूर्ण-निष्ठा रखनेवाले समाज के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी उद्देश्य सिद्धि के निमित्त सर्वप्रथम आन्वीक्षिकी और त्रयी की परम्परा सुदृढ़ बनाये और वार्ता एवं दण्डनीति की परम्परा पुनः नये सिरे से स्थापित करे। समाज के श्रेष्ठ और बुद्धिमान् लोग कठोर त्याग और तपस्या के साथ यह कार्य करने का निश्चय करें, तभी वह सफल हो सकता है। प्रस्तुत पुस्तक के निर्माता श्री शास्त्रीजी समस्त भौतिक वस्तुओं का आत्यन्तिक त्याग, विद्योपासना के लिए घोर तपश्चर्या, और पराकाष्ठा की प्रसिद्धि-पराङ्मुखता के मूर्तिमन्त प्रतीक हैं। जबतक उनके मार्गका अनुसरण करनेवाले अनेक श्रेष्ठ विद्वान् समाज में पैदा नहीं होते, तबतक लुप्त परम्पराओं का पुनरुज्जीवन होकर समस्त राष्ट्रीय व्यवहार के लिए आवश्यक इन चार विद्याओं की दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठा होना कठिन बात है।

(११) हम भारतीयों की सभी विद्याएँ एवं सभी शास्त्र वेद से उद्भूत हैं। श्रीगणेशजी उस श्रुति के ही प्रतीक स्वरूप देवता हैं। इसीलिए स्वभावतः वे सभी विद्याओं के नायक माने जाते हैं। उन्हें बुद्धि का अधिष्ठान देवता भी माना जाता है और सभी कार्यों के आरंभ में उन-उन कार्यों की सिद्धि के लिए आवश्यक विद्या की उपासना भी श्रीगणेश पूजन रूप में की जाती है। 'श्रीगणेशजी के पूजन से सभी विघ्नों का निवारण हो जाता है' इसका यही रहस्य है कि उस कार्य के लिए आवश्यक ज्ञान सामग्री पहले से ही एकत्र कर लेने की सतर्कता बरतने के कारण निर्विघ्न समाप्ति में किसी प्रकार की अड़चन उपस्थित नहीं हो सकती। श्रीगणेशजी के स्वरूप-वर्णन में भी उनके विभिन्न अङ्गों से विभिन्न विद्याओं एवं कलाओं की उत्पत्ति का उल्लेख पाया जाता है (ज्ञानेश्वरी, अध्याय १, ओवी १–२०)। श्रीगणेशदेवता विषयक उपर्युक्त शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार वैदिक मार्गाभिमानी समाज का कर्तव्य है कि वह अपना विद्याप्रचार का कार्य श्रीगणेशजी की उपासना से ही आरंभ करे। श्रीगणेशजी की यह उपासना वेदों के प्रामाण्य एव मानवीय जीवन की उपकारिता के प्रति दृढ़ श्रद्धा निर्माण करती है, कारण वेद प्रसूत विद्याओं से प्राप्त होनेवाले प्रमेयों को सिद्धान्त का स्वरूप प्राप्त होना अन्ततः वेदों के स्वतः प्रामाण्य पर ही निर्भर है। वेदों का ॐकारमय स्वरूप श्रीगणेश जी में स्पष्ट ही है। इसी तरह वेद प्रसूत विद्याओं एवं कलाओं की कल्याण कारिता के बारे में अध्ययन करनेवालों के चित्त में दृढ़भाव निर्माण होने में भी यह उपासना सहायक होती है। यही कारण है कि 'वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ' की 'विद्वत्परिषद्' की कार्यकारिणी 'गीर्वाण वाग्वर्धिनी सभा' ने राजनीति-सम्बन्धी पुस्तक के साथ ही 'श्रीगणेश सहस्रनाम' भी प्रकाशित करने का निश्चय किया। सभा यह आशा करती है कि इसके द्वारा श्रीगणेश देवता की उपासना उत्साह और श्रद्धा के साथ वैदिक-समाज में चल पड़े। सभा से स्नेह रखनेवाले वेदानुयायी सज्जन भी यह उपासना और विद्याप्रचार—ये दोनों काम अपनायेंगे, ऐसा सभा को विश्वास है।

चि० वि० देशपाण्डे

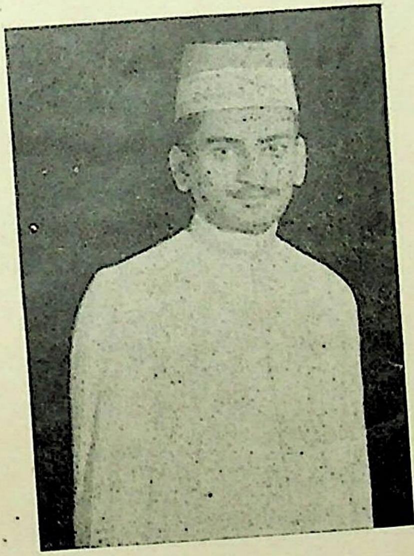
दो शब्द

कोरे भौतिकवादी उत्कर्षों को ही सर्वस्व मानकर अग्रसर विश्व अपनी सारी सफलताओं के साथ आज उस घाट पहुँच गया है जहाँ उसका सिर चकराने लगा है। उत्कर्ष की अपनी इन कृतियों में ही आज उसे 'क्षणमात्र में आत्मविनाश' दीखने लग गया है और 'शांति' की खोज में वह व्याकुल है। इस दशा में, विश्व की दृष्टियाँ आज 'शांति' के लिए भारत की ओर केंद्रित हैं। स्वतंत्र भारत ने भी कर्त्तव्यपालन की ओर ध्यान दिया है और इस दिशा के आरंभ प्रयत्नों में यह परम गौरवास्पद घड़ी है कि आज 'भारतीय राजनीति का दिग्दर्शन' आपके सामने है। आचार्य चाणक्य आदि पूर्वकालीन नीतिज्ञों के बाद यह पहला अवसर है कि भारतीय राजनीति की एक सम्यक झलक पा सकने का यह सुयोग हुआ है। लाक्षणिक चिकित्सावाली आधुनिक शैली की प्रचलित डाक्टरी गोलियों और इंजेक्शनों जैसा 'पंचशील सिद्धांत' व्याधि दवा भले दे, पर व्याधि की जड़ काटने या कारणों के मूलतः निवारण के लिए तो मौलिक उपचार ही अपेक्षित है। ऐसे सिद्ध उपचारों के एकमात्र स्रोत 'वेदों' के सुविवेचित राजनीतिक मर्म की एक झलक पंडितराज श्री राजेश्वर शास्त्री द्राविड की आजीवन अमोघ तपस्या के प्रसाद स्वरूप यहाँ उपलब्ध है। इससे ज्ञात हो सकेगा कि शासन वास्तव में किस लक्ष्य से परिचालित होकर ही सुनिश्चित सुख-शांति का साधक बन सकता है और आधुनिक राजनीति की त्रुटियों के कारण एवं उनके निवारण क्या हैं? मनोयोगपूर्वक इस ग्रंथ के अध्ययन से कर्त्तव्य की सम्यक् दिशा का बोध सामने आये बिना रह सकता नहीं और इतना हो पाना ही इस प्रयास की सफलता मानी जायगी।

भाद्र शुक्ल
गणेश चतुर्थी,
सम्वत् २०१३।

रघुनन्दन प्रसाद शुक्ल
'अटल'

काशी नरेश श्री विभूतिनारायण सिंह महोदय



आपके अमूल्य सहयोग एवं सत्परामर्श से ही 'शान्ति का अग्रदूत' (भारतीय राजनीतिशास्त्र का दिग्दर्शन) निबन्ध का निर्माण हो सका।

विषयानुक्रमणिका

श्रीगुरुः शरणम्

शान्ति का अग्रदूत

(प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्र का दिग्दर्शन)

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

पौर्वात्य एवं पाश्चात्य राजनीति की परस्पर तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पाश्चात्य नीतिज्ञों की विचार सरणी की अपेक्षा भारतीय नीतिशास्त्रज्ञों की विचार सरणी सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ तथा पूर्ण है। इस लेख में इसी तथ्य का दिग्दर्शन कराया गया है। भारतीय विचारधारा में अवतीर्ण होने पर यह बात समझ में आ जायगी कि भारतीय राजनीति में न केवल पाश्चात्य राजनीति का समन्वय भरा पड़ा है वरन् पाश्चात्य राजनीति में जो त्रुटियाँ हैं उन्हें खोल-खोल कर उनके संशोधनों का भी विचार किया गया है। भारतीय राजनीति पर प्रकाश डालने से पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि वास्तव में नीति कहते किस हैं ? इससे यह बात समझ में आ सकेगी कि पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोणों में क्या अन्तर है। फिर, यह सहज ही ध्यान में आ जायगा कि पाश्चात्यों के अभिलषित मार्गों की रूपरेखा किस प्रकार भारतीय नीति के महत्वपूर्ण लक्षणों में गर्भित है।

नीति का लक्षण यों कहा है—**"प्रत्यक्षपरोक्षानुमानप्रमाणत्रयनिर्णीतायां फलसिद्धौ देशकालानुकूल्ये सति यथासाध्यमुपायानुष्ठानलक्षणा क्रिया नीतिर्नयः"** (उपाध्यायनिरपेक्षा) (अर्थात् प्रत्यक्ष, परोक्ष और

अनुमान इन तीनों प्रमाणों से जो फलसिद्धि निश्चित हो, उसके लिए देश और काल के अनुकूल यथाशक्ति योजना करने का ही नाम नीति या नय है।)

उपर्युक्त लक्षण इतना दूरदर्शितापूर्ण है कि इसमें किसी भी मतवादी को नुक्ताचीनो का अवसर कहीं मिल नहीं सकता। शब्दप्रामाण्य पर आधारित अनुष्टान केवल 'धर्म' नाम से सम्बोधित होते हैं और जब प्रत्यक्ष एवं तर्क द्वारा भी हित का प्रतिपादन मिलता है तब उस अनुष्ठान की संज्ञा 'धर्म' न रहकर उसे 'नीति' संबोधन प्राप्त हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि 'नीति' 'धर्म' से बाहर नहीं है। प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा जिस अनुष्ठान का हित समझ में आता है उसे न करना अथवा शंका कुशंका करते बैठना स्पष्ट ही भयानक भूल कही जायगी।

इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि नीति के बारे में चार्वाक, बौद्ध और आस्तिक इन तीनों ही के स्वीकार्य प्रमाणों का समन्वय होना ही चाहिये। इसपर कोई ऐसी शंका सहज ही उठा सकता है कि 'अदृष्ट से प्रत्यक्ष का मेल कैसे बैठ सकेगा?' इसका उत्तर यह है कि ऊपर ऊपर देखने में जो अदृष्ट दृष्टिगोचर नहीं हो पाते उनके बारे में 'वेदान्तसूत्र मुक्तावली' के मर्म पर ध्यान देना चाहिये। उसमें कहा है कि 'अदृष्ट सर्वथा अदृश्य नहीं होता, कुछ अवस्था में वह दृश्य कोटि में भी आता ही है'। इसका स्पष्ट तात्पर्य यों समझ सकते हैं—'अग्निहोत्र में शुद्ध रूप से प्रदत्त आहुति जलरूप धारण कर सूर्यमण्डल में प्रवेश करती है, इसके ही सहारे पंचभूतों की सूक्ष्म मात्राएँ भी सूर्यमंडल में जाकर वहाँ इन्धन का कार्य करने लगती हैं। आगे वही मात्राएँ वृष्टि रूप से पृथ्वी पर और पृथ्वी से अन्न में प्रविष्ट होती हैं। इस प्रकार अन्न द्वारा पुरुष के शरीर में पहुँच कर वही मात्राएँ रस, रक्त, धातु रूप में परिणत हो जाती हैं और वहाँ से स्त्री के उदर में पहुँच कर वही आहुति 'पिण्ड' (गर्भ) रूप धारण कर लेती है।'

इसे यों समझें कि नवनिर्मित होनेवाले शरीर एवं मन में यदि बल, पुष्टि, स्फूर्ति, संस्कार, धारणा, मेधा, तुष्टि आदि गुणों का संग्रह बढ़ाना अभीष्ट हो तो संस्कारों द्वारा आहुति की शुद्धि संरक्षित रखनी ही होगी।

इस प्रकार, यह बात स्पष्ट हो गयी कि जल के रूप में भिन्नता न रखने के कारण ही अदृष्ट प्रत्यक्ष रूप में आ सका। मतलब यह कि इससे नीति के लक्षण में कोई विघात नहीं आता। यही बात भगवान् कृष्ण ने गीता में कही है—
'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्'।

जल में आया हुआ वह अदृष्ट स्थूल रूप है और उसी का सूक्ष्मरूप परमात्मा की प्रसन्नता है, जिसे परमात्मा की माया, परमात्मा की इच्छा या प्रकृति की लीला भी कहा जाता है। परमात्मा की विविध इच्छाओं में से किन्हीं इच्छाओं को मीमांसकजन 'शाब्दी भावना' नामक पारिभाषिक संज्ञा से सम्बोधित करते हैं। वेद के विधि भागमें व्यवहृत 'शाब्दी भावना' का अन्वय करने में मीमांसकों ने नीति के पूर्व कथित लक्षणों पर पूरी दृष्टि रखी है। इसका मतलब है कि 'शाब्दी भावना' की जानकारी पा लेने पर, अपने कर्त्तव्यों में उसका बड़ा हितकारी प्रयोजन है, ऐसा अनुमान आदि से समझ लेना चाहिये और तदनुकूल ही व्यवहार भी करना चाहिये। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि 'शाब्दी भावना' को समझ लेने के बाद, उसके निर्दिष्ट अनुष्ठान में प्रवृत्त होने से पहले यदि तर्कपूर्वक उसकी हितकारिता का विश्वास अपने मन में जम जाय तब ऐसा माना जा सकता है कि 'शाब्दी भावना' का सम्बन्ध 'अर्थी भावना' (अर्थात् जन प्रवृत्ति) से हुआ। इस प्रकार नीति के साथ घुलामिला धर्मानुष्ठान मानवमात्र के चित्त को आकर्षित करनेवाला होना ही चाहिये। अन्यथा,

"यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य, तिर्यञ्चोपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोपि विमुञ्चति" ॥

लोकानुभव पर आधारित कवि की उपर्युक्त उक्ति मिथ्या ठहरेगी।

ऊपर कहा जा चुका है कि नीति में तीनों प्रकार के प्रमाणों का समन्वय रहता ही है। इस तथ्य का विरोध पृथ्वीतल पर वर्तमान कोई भी दल नहीं कर सकता। ऐसा कथन कहाँ तक पुष्ट है, यह बात आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगी और समझ में आ जायगा कि उक्त तथ्य निर्विवाद है।

आप इसे यों समझें कि मानव समाज में अनेक दल दिखलाई पड़ने पर भी, यदि आप उनका वर्गीकरण करें तो उन्हें मुख्यतः दो ही दलों में विभक्त किया जा सकता है। (१) शब्द प्रमाणवादी और (२) केवल प्रत्यक्ष और अनुमानवादी। उक्त दोनों प्रकार के दल आज कोई नये नहीं उत्पन्न हो पड़े। सृष्टि के आरम्भ काल से ही ऐसे दो दलों का अस्तित्व पाया जाता है। यह बात भी निर्विवाद है कि उक्त दोनों ही दल अपनी अपनी शक्ति भर देशहित साधना की भावना से प्रयत्न किये बिना रहते नहीं। दोनों ही की दृष्टि का समन्वय करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्ग की समृद्धि ही उनका लक्ष्य होती है। यह भी प्रकट है कि उनके उक्त लक्ष्य (देश हित आदि) की उपादेयता यदि शब्द, प्रत्यक्ष और तर्क इन तीनों मार्गों से समझायी जा सके तब तो 'मीठा और वह भी भर कठौती' के समान वह किसी की भी गुणग्राहकता को आकृष्ट किये बगैर न रहेगी। ऐसे समस्त प्रमाणों से संयुक्त हितकारिता का विवेचन यथास्थान पाठकों के समक्ष आयेगा।

यह भारतीय नीति नवमतवादियों के बीच प्रत्यक्षवादी चार्वाक् ने भी स्वीकार कर रखी है। उदाहरणार्थ, चार्वाक् का यह सूत्र कि **'नीतिकामशास्त्रानुसारेण वर्तनं धर्मः'** प्रसिद्ध ही है। मतलब यह कि चार्वाक् के मतानुसार भी 'नीति के अनुकूल चलना ही धर्म' माना गया है। इसी प्रकार, अनुमानवादी बौद्ध धर्मवाले भी अपने वाग्भटादि वैद्यक ग्रंथों में मुक्तकंठ से घोषित करते हैं कि 'चार वर्णों की व्यवस्था और १६ संस्कार अर्थ एवं काम की समृद्धि के लिए कारणभूत हैं'।

जिस प्रकार उपर्युक्त दोनों दल भारतीय राजनीति का अनुगमन करते देखे जाते हैं उसी प्रकार, नीति का अनुसरण यदि साहित्य और नाट्य की प्रणाली से ठीक ठीक उतारा जा सके तो उसे देख पशु आदि भी नीति नायक के पदानुसरण में आनन्द अनुभव करते हैं, यह बात मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने अपने चरित्र से सिद्ध कर दिखला दी है। इतना समझ लेने पर भी यदि सन्देह बना रह जाय तो उसे सन्देह की गुंजाइश की अपेक्षा आत्मघात का न्यौता ही समझना चाहिये, इसमें लेश भी सन्देह नहीं।

इस प्रकार, सर्वप्रमाण और सर्वदलों का समन्वय करते हुए भारतीय राजनीति सभी के हित का उपदेश करती है, जिसकी प्रशंसा वेद भी मुक्त कंठ से करते हैं। **'तस्य श्रद्धैव शिरः, ऋतं दक्षिणः पक्षः, सत्यमुत्तरः पक्षः, योग आत्मा, महः पुच्छं प्रतिष्ठा, तदप्येष श्लोको भवति'** (तै० उपनि०) इस मन्त्र का अर्थ यह है कि "तीनों प्रकार के प्रमाणों से पुष्ट ज्ञान का ही नाम विज्ञान है। इसी विज्ञान का यहाँ गरुड़ पक्षी के रूप में निरूपण किया गया है। 'श्रद्धा' को उसका मस्तक बतलाया गया है, 'ऋत' और 'सत्य' ये ही उसके पंख हैं। इसमें 'सत्य' से मतलब प्रत्यक्ष और अनुमान का और 'ऋत' से मतलब 'शब्द' प्रमाण का लिया गया है। इन तीनों प्रकार के प्रमाणों का समन्वय करते हुए चित्तवृत्ति को स्थिर करना यही उस गरुड़ पक्षी की 'आत्मा' है। यदि इस 'सत्य' और 'ऋत' के बीच किसी प्रकार सम्बन्ध विच्छेद हो जाय तो 'विज्ञान' का रहना, न रहना बराबर हो जायगा। नीति पर लक्ष्य न रहा तो फिर देश में सर्वत्र पथभ्रष्टता हो छा जायगी। इसी आशय से **'सत्योपि हि न सत्यस्ता दण्डनीतेस्तु विप्लवे'** यह भारतीय राजनीति के आचार्य श्री कामन्दक का कथन यथार्थ ही है। इसी रीति से **'सत्यं त्वर्तेन परिषिञ्चामि'** आदि मन्त्रों का भाव भी होना चाहिये।

वेद आदि के द्वारा प्रशंसित नीति के कर्त्तव्य जिस प्रकार भारतीय राजनीति शास्त्र में दिखलाये गये हैं, उसी प्रकार पाश्चात्य राजनीति में भी हम भारतीय को प्राप्त हो सकते हैं। ऐसी दशा में, हम भारतीय चाहे पौर्वात्य अथवा पाश्चात्य किसी भी राजनीतिशास्त्र का अभ्यास करें तो इसमें औचित्य की दृष्टि से कोई बाधा नहीं आती, ऐसा भी किन्हीं लोगों का मत है। तथापि, वेदानुयायी भारतीयों के बतलाये न्यायपूर्ण सिद्धान्तों के आधार पर यही कहना होगा कि हम भारतीयों को प्रथम भारतीय राजनीति शास्त्र को ही समझ कर देश के भीतर अपनी नीति निर्धारित करनी चाहिये। इसका मूल कारण यह है––हम भारतीय विशेषरूप से नियम विधि में बँधे हुए हैं। कारण, उस विधि से संभव होनेवाले अदृष्टों का रक्षण हमारे लिए आवश्यक है। यह बात मीमांसा शास्त्र में आये एक सरल उदाहरण से पाठकों के ध्यान में आ जायगी। अमावास्या और पूर्णिमा के समय

'दर्शपूर्णमासेष्टि' नाम का जो यज्ञ किया जाता है उसी के सिलसिले में 'व्रीहीन-वहन्ति' नामक एक विधि वैदिकों के सामने आती है। इस विधि का मतलब यह है कि चावल निकालने के लिए धान कूटा जाय अर्थात् कुटाई से धान की भूसी अलग कर चावल निकाला जाय। इस कार्य में जैसे कुटाई से भूसी अलग की जाती है, उसी प्रकार नख या मशीन से भी भूसी अलग करने की बात आ सकती है। ऐसी दशा में, प्रश्न उत्पन्न होगा कि कौन से मार्ग का अवलम्बन उचित होगा ? ऐसे प्रसंग में 'व्रीहीनवहन्ति' ऐसा वैदिक वाक्य सामने आने पर विद्वानों को यही न्यायपूर्ण निर्णय करना पड़ा कि 'चावल प्राप्त होने पर्यन्त धान की कुटाई ही होनी चाहिये, नख या मशीन का इसमें उपयोग नहीं करना।' इसमें कुटाई का यदि अदृष्ट से ही संबंध रहता तो एकबार कुटाई हो जाने मात्र से काम चल सकता था। पर, बात ऐसी नहीं है। कारण उपर्युक्त विधि का लक्ष्य चावल निकालने में है। जहाँ तक दृश्य फल की कल्पना मनुष्य के सामने आती है वहाँ वह अदृष्ट की ओर अपनी बुद्धि नहीं दौड़ाता, यह मनुष्य का स्वभाव ही है। इस प्रकार, इस विधि का लक्ष्य दृष्ट चावल निकालने में ही है तो फिर उसे कुटाई के द्वारा निकालने की जो विधि उसमें कही गयी, उसका कोई विशेष प्रयोजन नहीं रह जाता। ऐसी दशा में, विधि की जहाँ व्यर्थता प्रकट होती है, वहाँ उसे नियम विधि के रूप में मान्य करना अर्थात् अन्य उपायों का परित्याग करना ही इष्ट है। मतलब यह कि धान की भूसी निकालने के लिए नख या मशीन से काम न लिया जाय।

इसी सिद्धान्त के आधार पर कहना होगा कि चावल निकालने के समान ही दृश्यफल वाले धर्म, अर्थ और काम की समृद्धि के लिए जिस नीति का व्यवहार आवश्यक है उस संबंध का उपदेश पौर्वात्य और पाश्चात्य दोनों ही शास्त्रों में मिलने पर भी, हम भारतीयों को अपने ही शास्त्र से बात समझकर नीति निर्धारित करनी चाहिये, यह नियम स्वीकार करना होगा। प्रसंगवशात् यह कह देना भी अनुचित न होगा कि उपर्युक्त विधान के अनुसार धान की कुटाई की जाने पर भी एकाध चावल पर छिलका (भूसी) रह जाना भी संभव है और उस भूसी को हटाने के लिए चावल कूटना संभव

नहीं हो सकता। कारण इसमें वह चावल ही टूट जायगा। ऐसी दशा में, नख का उपयोग कर वह भूसी हटा देना ही ठीक होगा। ऐसे नियम विधि का प्रचलन अपने दैनिक व्यवहार में (दाहिने हाथ से भोजन करने की तरह) और अदालत में भी (बायें चलो के रूप में) देखने में आता है। इस प्रकार, यदि योग्य नीति का निर्धारण भारतीय शास्त्रों द्वारा सर्वथा ही संभव न हो तब अन्य शास्त्रों में कहे अनुसार कार्य करने पर हम भारतीयों के लिए उपर्युक्त नियमोल्लंघन की बाधा न रहेगी।

सर्व दलों के अनुकूल और तीनों ही प्रमाणों से समन्वित अनुष्ठान भारतीय राजनीतिशास्त्र में सर्वत्र बतलाये गये मिलते हैं। इनमें जिन अड़चनों की गुत्थियां पाश्चात्य लोग आजतक सुलझा नहीं सके हैं उन्हीं पर, आरंभिक कथनानुसार, विचार करने का अवसर यहाँ उपस्थित है। इनमें अनेक गुत्थियों के बीच एक गुत्थी 'परराष्ट्रों से हुई संधियां' भी हैं। इन संधियों का विचार भारतीय राजनीति शास्त्र के दूसरे विभाग में किया गया है। भारतीय नीतिशास्त्र मुख्यतः दो भागों में विभाजित है। प्रथम विभाग 'स्वराष्ट्रमण्डल' संबंधी और दूसरा विभाग 'परराष्ट्रमंडल' संबंधी है। आचार्य कामन्दक ने 'नीतिसार' नामक ग्रंथ के आरंभ में २ से ७ सर्ग पर्यन्त 'स्वराष्ट्रमंडल' का सांगोपांग विचार किया है। इसके आगे 'परराष्ट्रमंडल' का प्रकरण १३ सर्गों के भीतर आया है। इसमें भारतीयों के विशेष महत्व की क्या बात कही है, इसे देखें।

पौर्वात्य एवं पाश्चात्य इन दोनों ही राजनीतियों में इस बात पर पूर्णरूप से विचार किया गया है कि प्रत्येक राज्य दूसरे राज्य के प्रति कैसा व्यवहार करे? इस व्यवहार के छः ही विशिष्ट मार्ग (१) सन्धि, (२) विग्रह, (३) यान, (४) आसन, (५) द्वैधीभाव और (६) समाश्रय बतलाये गये हैं। इन्हें 'षट्गुण' या 'षाड्गुण्य' नामों से संबोधित किया जाता है। इनमें परराष्ट्र से हुई या होनेवाली संधि ही प्रधान गुण है। इसी सन्धि के लिए अन्य पाँच गुणों की अपेक्षा होती हैं। संधि की उपेक्षापूर्वक व्यर्थ लड़ाई छेड़ प्रजा, पशु धन और राजकोष का अपक्षय करना किसी भी विचारशील राष्ट्र को पसन्द न आयेगा। शान्ति वस्तुतः संधि का ही पर्याय रूप है। राजनीति के प्रधान आचार्य चाणक्य ने संधि के 'शमः

समाधिः, संधिः,' (कौटि० अर्थशास्त्र) ऐसे तीन पर्यायवाची नाम बतलाये हैं। भारतीय नीतिशास्त्र के आचार्यों ने अपने राजनीतिशास्त्र में पारिभाषिक शब्द 'सन्धि' का उपयोग किस अर्थ में किया है, इसे हमें उनसे ही समझ लेना चाहिये। अर्थशास्त्र के आचार्य चाणक्य ने सन्धि शब्द की व्याख्या यों की है—"राज्ञां विश्वासोपगमः" सन्धिः। इसका अर्थ यह है कि संधि करनेवाले दोनों राष्ट्र परस्पर का हित साधन करने में एक दूसरे की सहायता करेंगे ही, ऐसा निश्चय कर लें। "अयं मदिष्टम् साधयिष्यत्येव इत्याकारकनिश्चयो विश्वासः।" इस शास्त्रीय व्याख्या से भी उक्त बात पुष्ट होती है। ऐसा निश्चय या विश्वास क्षणिक न होकर यदि आजीवन अथवा आगामी पीढ़ीतक कायम रहे तो उसे 'स्थिर संधि' नाम से सम्बोधित किया जा सकता है। तात्कालिक विश्वास तो किन्हीं विशेष कारणों से विगलित हो जाने पर युद्ध की आशंका भी खड़ी हो सकती है, जिससे जनता का सुख स्वप्न बन जाय। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आज की स्थिति में मिलता है कि स्थिर विश्वास के अभाव के ही कारण राष्ट्र सामाजिक सुख-शान्ति से वंचित देखे जा रहे हैं।

जहाँ दो पक्ष के बीच विश्वास बंध जाता है, उन्हें परस्पर मित्र कहा जाता है। ऐसे मित्रों का सहज ही परस्पर व्यवहार इस प्रकार का होता है, जिससे मैत्री की शोभा बनी रहे। ऐसी मैत्री का प्राण यदि कहा जाय तो 'दास्य' भाव होता है, जिसे हम ईश्वर भक्ति की परम्परा को ध्यान में लेकर सहज ही समझ सकते हैं। मैत्री और दास्य के प्रकृत नियमों को हृदयंगम करने के लिए आपाततः यहाँ ईश्वर भक्ति का थोड़ा विवेचन अप्रासंगिक न होगा।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

नवधाभक्ति का इस श्लोक में आया क्रम श्रीमद्भागवत में वर्णित है। इसमें पूर्व निर्दिष्ट कर्तव्य क्रमशः अग्रिम निर्दिष्ट कर्तव्य का मूल है, ऐसा समझना चाहिये। उदाहरणार्थ भगवान् के सुयश का 'श्रवण' आगे चल कर 'कीर्तन' भावना का कारण बन जाता है। इसी प्रकार, 'दास्य' आगे चल कर 'सख्य' का जनक सिद्ध होता है। यह बातें भगवद्भक्तों के बीच सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में ख्यात हैं।

'सख्य' भक्ति में पारस्परिक विश्वास ही उसका प्राण अथवा स्थायी भाव है, यही बात हम ऊपर कह आये हैं। इसी प्रकार, 'दास्य' शब्द का अर्थ 'स्वामिशेषत्व' कहा गया है, जिसका मतलब यों समझें कि 'मालिक के हृदय में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करना अभीष्ट होने पर मालिक के लिए मनसा वाचा कर्मणा अपनी जान तक सेवाभाव में लड़ा देना कर्तव्य होता है। ऐसे भाव को ही 'दास्य' भाव कहा जाता है। अंगी और अंग का सम्बन्ध ही स्वामी और सेवक के बीच का अनन्य संबंध द्योतित करता है। सन्त (उदार) मालिक को अपने ऐसे सेवक के योगक्षेम की चिन्ता बनी ही रहती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी अभिप्राय को लक्ष्य कर कहा है—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥" (गीता)

इस भगवदीय वचन में आया 'अनन्याः' शब्द अत्यन्त महत्व का है। यह 'अनन्य' शब्द पूर्वोक्त 'दास्य' शब्द का ही संकेत करता है। इस बारे में उदाहरण के लिए द्रौपदी वस्त्रहरण का प्रसंग उपस्थित किया जा सकता है। जबतक द्रौपदी अपने पति, सभासद आदि पर भरोसा बाँधे रही तबतक भगवान श्रीकृष्ण ने उसकी पुकार सुनकर भी अनसुनी सी ही रखी। जब उसने अपनी रक्षा में अपने पति और सभासद आदि की असमर्थता समझ, एकमात्र भगवान् पर ही भरोसा बाँधकर पुकार लगायी, उसी समय भगवान् कृष्ण ने वस्त्ररूप में प्रकट होकर उस सती की रक्षा की और सभा के बीच उसकी मर्यादा भंग न होने दी। इसी प्रकार, 'परमेश्वर से ही हमारा हित साधन होता है' ऐसी दृष्टि आते ही, ज्यों-ज्यों विश्वास बढ़ेगा, त्यों-त्यों 'सख्य' भक्ति की वृद्धि होकर आज का सेवक किसी दिन ईश्वर स्वरूप में मिल मुक्त हो जायगा। इससे पाठकों के ध्यान में यह बात आ गयी होगी कि जो क्रम यहाँ ईश्वर भक्ति के बारे में कहा गया है, ठीक वही क्रम पूर्वोक्त 'सन्धि' के संबंध में भी लागू है।

सेवा द्वारा परमात्मा का सख्य प्राप्त कर लेना अत्यन्त सहज ही है। इसी प्रकार, एक नरेश को दूसरे नरेश का सख्य प्राप्त करने के लिए उसकी सेवा करनी चाहिये। सारांश यह कि उसे दास्य स्वीकार करना होगा, यह बात स्पष्ट

है। पर, सन्धि करनेवाले उभयपक्ष में एक स्वार्थी अर्थात् अनधिकारी हो तो सम्पन्न हुई सन्धि स्थिर रह सकेगी, ऐसे विश्वास का कोई कारण नहीं। आज पाश्चात्यों के समक्ष भी बेचैनो का यही प्रश्न उत्पन्न है कि राष्ट्रों के बीच संपन्न हुई सन्धियाँ स्थिर कैसे रखी जायें? अद्यावधि इस उलझन का यथार्थ समाधान मिल नहीं सका है। भारतीय नीतिज्ञों ने इस समस्या का पूर्णत: सन्तोषजनक ऊहापोह किया है। इस सम्बन्ध में उनका निर्वचन निम्नलिखित है—

सन्धियाँ दो प्रकार की होती हैं। एक 'चलसन्धि' और दूसरी 'स्थिरसन्धि'। जिस सन्धि के द्वारा सम्पन्न हुआ सख्य अल्पावधिक हो, वह सन्धि चल होती है। उदाहरणार्थ, द्वितीय महायुद्ध के पूर्व रूस और जर्मनी के बीच जो सख्य (सन्धि) स्थापित हुई, उसे थोड़े ही समय बाद जर्मनी ने ताख पर रख रूस के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया था। मिस्र ने हाल में स्वेजनहर कंपनी के राष्ट्रीयकरण द्वारा सन् १८८८ के संधि का जो उच्छेद किया है, उससे समस्त राष्ट्रों में खलबली पड़ गयी है, यह भी चल सन्धि का ही एक नमूना है। पाकिस्तान के साथ भारत की नित्य की चलती तनातनी तो सब को ज्ञात ही है। इस 'चल सन्धि' के विपरीत 'स्थिर सन्धि' का स्वरूप ही दूसरा है। ऐसी सन्धि के उदाहरण में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र और श्री सुग्रीव के बीच हुई सन्धि का प्रलेख हम कर सकते हैं। यह सन्धि उन दोनों के बीच केवल अग्नि के समक्ष साक्षी देकर की गयी थी और उन्होंने उसका आजीवन पालन किया।

'स्थिर सन्धि' के अधिकारी कैसे लोग हो सकते हैं, इस पर वेदानुयायी आचार्य चाणक्य ने अर्थशास्त्र में प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि **'सत्यं शपथो वा चलसन्धिः', प्रतिभूः प्रतिग्रहो वा स्थावरसन्धिः इत्याचार्याः, नेति कौटिल्यः, सत्यं शपथो वा परत्रेह च स्थावरसन्धिः, इहैव प्रतिभूः प्रतिग्रहोवा बलापेक्षः संहिताः स्म इति पूर्वे राजानः सत्येन सन्दधिरे।'** (कौ० अ० ७ अध्याय १७) अर्थात् अर्थशास्त्र के किन्हीं आचार्यों के मतानुसार "स्थिर सन्धि के लिए आवश्यक है कि जिस राष्ट्र से सन्धि करनी हो उस राष्ट्र की कोई अति उपयोगी वस्तु अथवा राष्ट्र के किसी

प्रधान पुरुष को पहले कब्जे में ले लिया जाय। अथवा, उभय राष्ट्रों के बीच संधि संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी किसी उत्तरदायी संस्था की मध्यस्थता में हो, जो अपराधी पक्ष को दण्ड देने की भी सामर्थ्य रखे। इस प्रकार, उभय पक्ष के बीच सम्पन्न हुई सन्धि स्थिर होगी। इसके विपरीत, सत्य और शपथ के बल पर सम्पन्न हुई सन्धि स्थिर हो सकती नहीं, यह बात सर्व-ज्ञात है", प्रायः यही विचारधारा पाश्चात्य राजनीतिज्ञों की है।

किन्हीं पूर्वाचार्यों और उनके अनुयायी पाश्चात्यों का यह मत कि 'केवल उपर्युक्त प्रकार सन्धि स्थिर होती है' यह विचार चाणक्य की दृष्टि में युक्ति संगत नहीं ठहरता। चाणक्य ने उपर्युक्त पाश्चात्य विचारधारा का आदर तो किया है, पर साथ ही, इस बात पर भी जोर दिया है कि उनमें सत्य और शपथ का भी योग होना ही चाहिये। पाश्चात्यों की वर्तमान गंभीर उलझन का भारतीय समाधान यही है। केवल इतने ही कथन से चाणक्य के विचारों का मर्म सबके ध्यान में न आ सकेगा, इसलिए उनकी उस तर्कना का आगे विस्तार से विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

दूसरे से सन्धि करने के लिए जो राजा या राष्ट्र तैयार होगा वह ऐसा कार्य अपने में किसी न किसी प्रकार की कमी का अनुभव करके ही करेगा। कारण यह है कि मन्त्रणा, प्रभुत्व और उत्साह इन तीनों का अपने में पूर्णरीत्या बल वर्तमान होने पर कोई किसी से सन्धि की प्रार्थना करेगा ही किसलिए ? परिस्थितिवश अपनी शक्ति में त्रुटि देखकर ही संधि करने की प्रवृत्ति हुआ करती है और शत्रु की शर्तें मान्य करते हुए विपत्ति को टालना एवं अपने बल-वर्धन की व्यवस्था बाँधना, यही सन्धियों के पीछे मूल कारण रहा करता है। इसी की पुष्टि में कामन्दक का कथन है—

'बलिना विगृहीतः सन् नृपोऽनन्यप्रतिक्रियः।
आपन्नः सन्धिमन्विच्छेत्कुर्वाणः कालयापनम्'॥

कि 'अपने में पुष्ट शक्ति का अभाव होने की दशा में की गयी सन्धि का तात्पर्य केवल कालयापन मात्र होता है।' ऐसी दशा में, शक्ति की उस कमी की पूर्ति होते ही पहले की विनम्रता के बदले बोल-चाल, व्यवहार आदि में क्रमशः अन्तर उत्पन्न

होना प्राप्त ही है। वीर पुरुषों का प्रकृत स्वभाव हो ऐसा होने के कारण इसमें कोई नयी बात भी नहीं। मतलब यह कि उदयाचल पर आनेवाले सूर्य के समान ही प्रतापी राजा पहले की स्वीकृतशर्तों का पालन करेगा ही, ऐसा भरोसा नहीं किया जा सकता। उलटे, वह बदला लेने की दृष्टि से, अपनी सौंपी वस्तुएँ वापस चाहेगा और अपनी नयी नयी शर्तें सामने उपस्थित करेगा। ऐसे समय विपक्ष को, उसका अधिक बल ध्यान में लेकर, सौंपी वस्तुएँ चुपके से वापस करनी होंगी। ऐसा न करने पर युद्ध की नौबत आ जायगी। ऐसी स्थिति में, मध्यस्थ को भी चुप साध कर बैठ जाना होगा। इससे स्पष्ट है कि प्रतिग्रह (अर्थात् जमानत में सामान या व्यक्ति को लेकर) अथवा प्रतिभू (मध्यस्थ रखकर) की हुई संधियों में उपर्युक्त ढंग का उलटफेर निश्चित ही है।

इस प्रकार, राजवर्ग के वैसे लोग, जिनसे सन्धि करना हो, दो श्रेणी में विभक्त हो सकते हैं। एक वह प्रतापी नरेश, जो उच्चप्रकृति का हो और दूसरा निम्न श्रेणी का नरेश। इसमें उच्च प्रकृतिवाले राजा से यदि उपर्युक्त पाश्चात्य तरीके की संधि की गयी तो वह परिणाम में युद्ध का रूप ग्रहण किये विना रहने की नहीं। यह ध्रुव सत्य है। इसका मतलब यह है कि ऐसी संधि 'स्थिरसंधि' के कोटि की नहीं, हो सकती, यह मान लेना पड़ेगा। चाणक्य ने जो बात ऊपर कही है उसके भीतर यही मर्म निहित है। सारांश, यह कि उच्च प्रकृति के राजा को नियंत्रण में रखने के लिए सन्धि में 'सत्य' और 'शपथ' का योग भी होना ही चाहिये। ऐसा जो चाणक्य का मत है, वही ठीक है। सत्य और शपथ की इन दो बातों पर जो राष्ट्र ध्यान न देंगे उनके लिए स्वदेश या विदेश में अनेक संधियों के बावजूद भी शांति सुस्थिरता की समस्या बनी ही रहेगी और तृतीय महायुद्ध की आशंका जैसी आज की स्थिति से छुटकारा न मिल पायेगा।

उच्च पक्ष के नरेश या राष्ट्रों के बीच स्थिर संधि के लिए प्राणभूत कहे गये 'सत्य' और 'शपथ' शब्दों का अर्थ अर्थशास्त्र में इस प्रकार कहा है—'सत्य का मतलब' 'परलोक के प्रति सन्धि कर्ताओं का विश्वास' है और 'शपथ' का मतलब 'समझदारी के साथ जनता के समक्ष लिखकर या बोलकर संधि की शर्तों को स्वीकार

करना है'। इन दोनों ही की उपेक्षा का अर्थ सख्य, स्वराज्य और स्वतः का भी विनाश करना ही होता है। यह बात ऐसी है जिसे सभी को अथवा कम से कम नीतिज्ञों को तो ध्यान में रखनी ही चाहिये।

इस संबंध में कुछ लोग ऐसी शंका उठा सकते हैं कि "संधि के प्रसंग में 'परलोक विश्वास' की बात व्यर्थ है। जिन लोगों को परलोक में विश्वास नहीं ऐसे लोगों को, चाहे वे स्वराष्ट्र में हों या परराष्ट्र में, ऊँचे पदों पर बैठाया जा सकता है और उनसे मैत्री संबंध भी जोड़ा जा सकता है। केवल तीन ही बातों द्वारा उनसे काम चल जायगा। वह यह कि (१) उनकी जमानत प्राप्त हो, (२) कोई जिम्मेदार मध्यस्थ हो और (३) उसने लोगों के समक्ष शर्त पालन करने की शपथ ग्रहण कर ली हो। इस प्रकार, क्यों न 'परलोक विश्वास' के बदले इन्हीं तीन बातों का उपयोग राजविभाग में किया जाय? इससे एक लाभ यह भी होगा कि उच्च प्रकृति और निम्न प्रकृति के वर्ग संधि-शर्तों के विरुद्ध न जा सकेंगे कारण बड़े कहे जानेवाले लोग जनता के समक्ष ग्रहण की गयी शपथ के विरुद्ध आचरण को बुरा समझते ही हैं।"

इस सम्बन्ध में यथार्थ तो यह है कि यह पक्ष तभी तक सार्थक रह सकता है जबतक संधिकर्ता अपनी स्वीकृत प्रतिज्ञा का मूल्य समझे और उसके विरुद्ध आचरण में उसे लज्जा की अनुभूति हो। उच्च प्रकृति के मनुष्यों को अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध आचरण करने या उस संबंध में लापरवाही दिखलाने पर स्वतः झेंप आती ही है। उसके ऐसे आचरण की बात यदि कहीं व्यक्त हो जाय तो उसके चेहरे पर लाली की जगह स्याही फैल जाती है। उच्च प्रकृति के लोगों को नियंत्रित रखने में शपथ का उपयोग इतना ही है। इस सम्बन्ध में 'परलोक विश्वास' की अनावश्यकता बतलानेवाले पक्ष का बल उक्त तर्कना मात्र पर आधारित होगा। इसी तर्कना के आधार पर आज भी जो लोग शासक पदों पर आरूढ़ होते हैं उन्हें भी शपथ लेनी पड़ती है।

इस प्रसंग पर यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने बैठें तो देखेंगे कि इसमें एक बड़ी त्रुटि बनी ही रह जाती है। वह यही कि शासक पदों पर आरूढ़ व्यक्ति जनमत पर इसलिए सतर्क दृष्टि रखता है कि उसके प्रति जनता में कोई उल्टी

धारणा न होने पाये। जनमत में जिस क्रम से परिवर्तन होता जायगा उसी क्रम से उसका व्यवहार भी बदलता जायगा। इस प्रकार, आगे चलकर यह भी स्थिति आ सकती है जिसमें मूलसिद्धांत इतना बदल जाय कि आरंभिक सिद्धांत पर आधारित प्रतिज्ञाएँ ही कौड़ी की तीन हो जायँ। ऐसी दशा में, व्यवहार यहाँ तक बदल सकता है जिसमें शपथ लेनेवाले के लिए संकोच की कोई बात ही न रह जाय। इस संबंध में हम एक उदाहरण उपस्थित करते हैं, जिससे बात अधिक स्पष्ट हो जायगी। एक समय था कि जब चुन्दी रखना भारतीयोंकी सभ्यता का चिह्न माना जाता था। उस चुन्दी की प्रतिष्ठा रक्षा के लिए ही छत्रपति शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह जैसे विख्यात वीरों को समरांगण में उतरना पड़ गया था और इस प्रकार, लोगों ने अपनी सभ्यता रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगा दी। उस समय चुन्दी न रखने की बात तक कहनी भी भारतीयों के लिए घोर अपमान कारक थी। पर, आज उसी भारत में ऐसा समय आ गया है कि लोग स्वेच्छया चुन्दी कटाये घूमते हैं। अब तो विचार यहाँ तक बदल चुके हैं कि चुन्दी रखने की बात में भी लोगों को लज्जा का अनुभव होता है।

इन बातों से स्पष्ट हो जाता है कि शपथ के लिए लोकमत की स्थिरता और लोकमत के लिए मूल सिद्धांत की स्थिरता का प्रबंध होना ही चाहिये। ऐसा हुए बगैर, न तो लोकमत ही स्थिर रख पाना संभव होगा और न लोकमत का अनुसरण करनेवाले स्वराष्ट्रीय या परराष्ट्रीय शासक ही अपनी शपथ या कर्तव्य पर स्थिर हो सकेंगे। कारण, उनके समक्ष लज्जा का कोई आधार न रह जायगा। ऐसे शासक आज शपथ लेकर आगे हमारा हित करेंगे, ऐसा भरोसा कभी नहीं रखा जा सकता। इसलिए 'परलोक विश्वास' अर्थात् 'सत्य' के अतिरिक्त जिन तीन रीतियों पर सन्धि की बात कही गयी है, वह कथमपि स्थिर होनेवाली नहीं। इसीलिए चाणक्य ने 'सत्य' का अर्थ सन्धिकर्ताओं के संबंध में 'परलोकविश्वास' रखकर उसे चतुर्थ साधन बतलाया है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर प्राचीन इतिहास में भी राजाओं की प्रशंसा में 'सत्यसन्धा हि राजानः' आदि वचन प्रयुक्त हुए हैं।

सौभाग्यवश, संधि के चार साधनों (प्रतिग्रह, प्रतिभू, शपथ और सत्य) में यह 'परलोक विश्वास' (सत्य) की बात हम भारतीयों को प्रकृत्या ही निधि रूप में प्राप्त है। यह निधि आज भी अनादि परंपरा से किन्हीं भारतीयों के बीच सुरक्षित देखी जाती है। इसका कारण हमारा स्थिर एवं अपरिवर्तनीय वैदिक मत ही है। ऐसे मौलिक महत्व के वैदिक मतानुयायी भारतीयों को 'अन्धविश्वासी' करार देना अपनी ही घोर अज्ञता का परिचय देना है। कारण, स्थिर संधि के लिए मूलत: उपयोगी वेदसिद्धान्त बड़े ही समीचीन रूप में वंचनाशून्य प्रमाणों द्वारा निरूपित हैं। इस संबंध में उठनेवाली शंकाओं के समाधान अन्यान्य ग्रन्थों में प्रसिद्ध ही हैं। यहाँ उनकी पुनरावृत्ति करनेसे लेख में अनावश्यक विस्तार होगा। अपरिवर्तनीय 'परलोकविश्वास' का मूलतत्व 'वेदों की अपौरुषेयता' पर निर्भर करता है। इसलिए यह प्रकरण यहाँ न उठाकर हम अपने प्राप्त विचार प्रसंग का ही आगे निरूपण करते हैं। वेदों की अपौरुषेयता के बारे में संक्षिप्त विवेचन परिशिष्ट में देखें।

भारतीय नीतिशास्त्र के पंडितों द्वारा शोधपूर्वक प्रकाश में लायी गयी और भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध 'स्थिर संधि' की जानकारी पाश्चात्यों को नहीं है। इसका कारण यही है कि उनके मूल सिद्धांत परिवर्तित होते रहते हैं और जटिल परिस्थितियों से विवश होकर आज भी कभी कभी पाश्चात्य यह कहने को विवश होते हैं कि 'भारत ही एक ऐसा देश है जो स्थिर शांति का मार्ग दिखला सकता है।' वर्तमान समय में तो यह आवाज अत्यन्त व्यापक सी बनी हुई है।

उपर्युक्त ढंग से संपन्न हुई 'स्थिर संधि' ही 'सुवर्ण संधि' कही जाती है। जिस प्रकार सोने के दो टुकड़े गलाने पर एकीभाव में मिल जाते ह उसी प्रकार स्थिर संधि में ग्रथित उभय पक्ष ऐकमत्यपूर्वक आजीवन समभाव से परस्पर सुख दुःख का अनुभव करते हैं। ऐसी संधि ही संगत संधि भी कही जाती है जैसा कि कामन्दक ने कहा है—

'सद्भिः सङ्गतसन्धिस्तु मैत्रीपूर्व उदाहृतः'।
'यावदायुःप्रमाणन्तु समानार्थप्रयोजनः'॥ (नीतिसार, नवमसर्ग)

स्वशासन के भीतर भी राज्य शकट को चलानेवाले सभी अंग जबतक 'एकप्राण' होकर कार्य नहीं करते तबतक राज्यचक्र व्यवस्थित रूप में चल नहीं सकता। इस बारे में कामन्दक का कथन है कि

'परस्परोपकारीदं सप्तांगं राज्यमुच्यते।
एकांगेनापि विकलमेतत्साधु न वर्तते ॥' (नी० ४ स०)

(अर्थात्, शासन के सातों ही अंग एक दूसरे के प्रति उपकारिता का भाव रखकर कार्य करते हों तभी उसे राज्य कहा जा सकता है। उनमें से एक भी अंग के सदोष होने पर शासन सुचारुरूप से चल सकता नहीं।)

भारतवर्ष में आरम्भ से ही इस बात का विशेषरूप से प्रयत्न चलता आया है कि उपर्युक्त प्रकार की समरसता गुरु, शिष्य, पति, पत्नी, राजा, प्रजा, स्वामी और सेवक के बीच बनी रहे। यह बात व्यवहार में सफल भी उतरी और देश में शान्ति का साम्राज्य छाया था। इसी स्थिति का चित्रण किसी कवि ने अपनी कविता में यों किया है—

'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यत्,
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं,
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते' ॥

(अर्थात्, सभी अवस्थाओं में सुख दुःख की स्थिति के बीच अद्वैतभाव, जिसमें हृदय शीतल हो, वृद्धावस्था आने पर भी जिसमें रस घटे नहीं और ज्यों ज्यों समय बीतता चले स्नेह सार निखरता आये ऐसा ऊँचे दर्जे के लोगों का प्रेम सौभाग्य से ही प्राप्त होता है।)

इस विवेचना से यह बात स्पष्ट समझ में आ जायगी कि जिस प्रकार किसी व्यक्ति के जन्मना ब्राह्मण होने पर भी उसके स्वरूप की सुन्दरता ब्रह्मचर्यादि आश्रम के कर्त्तव्यों का यथाविधि पालन करने में ही है, उसी प्रकार शब्द प्रामाण्य पर आधा-

रित धर्म भी तभी निखार पर आता है जब प्रत्यक्ष और तर्कपूर्वक उसकी हितकारिता को समझकर उसे उल्लास के साथ व्यवहार कार्यों में नीति के रूप में ग्रहण किया जाय। इस प्रकार नीतिपथ पर आरूढ़ किसी भी स्वराष्ट्र या परराष्ट्र-मंडल के लोगों के साथ 'स्थिरसंधि' का होना अशक्य नहीं है। इस महत्वपूर्ण भारतीय प्रणाली से दूर रहनेवाला वर्ग कभी स्थिर संधि का पात्र बन सकता नहीं और यदि दैवात् उसी से कहीं संधि का योग आ जाय तो समझ रखना चाहिये कि वह अपने स्वार्थों के लिए अपर पक्ष का गला काटे विना न रहेगा। ऐसे ही प्रसंग पर यह लोकोक्ति भी है कि

'मृद्धटवत्सुखभेद्यो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति।
सुजनस्तु कनकघटवत्, दुर्भेद्यः सुकरसन्धिश्च ॥'

(अर्थात्, दुर्जन के साथ सन्धि कठिन भी है और मिट्टी के घड़े की तरह वह टूट भी जा सकती है। इसके विपरीत, सज्जन के साथ संधि सुकर भी है और वह सोने के घड़े की तरह दैवात् ही टूट पाती है।)

इस प्रकार, यहाँ हम यह स्पष्ट कर चुके कि पाश्चात्य नीति की एक विशेष त्रुटि का परिमार्जन भारतीय नीतिशास्त्र की दृष्टि से क्या है। इसके आगे, पाश्चात्य नीति की अन्य उलझनों, त्रुटियों और उनके सुधार का विचार करना है। पर, इसमें ऐसी शंका उठ सकती है कि यह सारा उपदेश राजा के ही समक्ष करना उचित होगा। दूसरों के लिए अर्थशास्त्र के उपदेशों का कोई भी प्रयोजन नहीं, ठीक वैसे ही, जैसे संन्यासी के समक्ष गृहस्थ धर्म का उपदेश व्यर्थ है। कामन्दक ने भी आरंभ में ऐसा कहा है कि 'नीति का उपदेश भूमिपतियों के लिए ही उपादेय है।'

'उपार्जने पालने च भूमेर्भूमीश्वरं प्रति।
यत्किंचिदुपदेक्ष्यामो राजविद्याविदां मतम् ॥'

(नी० १सर्ग)

'भूमीश्वरं प्रति अन्यस्य तु राजविद्यायामनधिकारात्।' (जयमंगला टीका)। इसी प्रसंग में यह प्रश्न भी स्वभावतः उठ सकता है कि जो नीति अर्थशास्त्र में राजा के लिए निर्धारित है उसका व्यवहार साधारण जनता के लिए

कहाँतक धर्मसंगत होगा ? उपर्युक्त शंका पर धर्मशास्त्र और मीमांसा का निर्णय क्या है, इसे देखें ।

जबतक राजा योग्य रीति से प्रजा पालन करता रहे तबतक राजनीति पर सामान्य जनता के ध्यान न देने की दशा में भी राज-काज में कोई बाधा न आयेगी। पर, यदि राजा शासनकार्य में अयोग्य हो अथवा प्रजा में अराजकता फैली हो या फैलनेवाली हो, ऐसी दशा में, राजनीति की उपेक्षा करने का मतलब राष्ट्र के साथ अपने भी जीवन को खतरे में डालना होता है। इतना ही नहीं, नीचे लिखे शास्त्रीय आधार पर प्राप्त आज्ञा के विपरीत आचरण के परिणाम स्वरूप लोक के साथ परलोक भी बिगड़े विना न रहेगा। महाभारत में कहा है कि

‘क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात्प्रवृत्तः पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ।’

उपर्युक्त श्लोक के सीधे सादे शब्दों को ऊपर ऊपर देखने से तो विधि रूप में उसका अर्थ नहीं निकलता। यह बात ठीक होते हुए भी, यदि उसका तात्पर्य समझने की चेष्टा की जाय तो वस्तुतः विधिरूप में उसका अर्थ स्पष्ट हो जायगा। सृष्टि-कर्ता ब्रह्मदेव के द्वारा आरंभ में क्षात्र धर्म प्रवर्तित हुआ। बाद, उसी धर्म के प्रयोजन से अन्य धर्म भी प्रकट हुए। इससे यह बात समझ में आ जायगी कि परमेश्वर का प्रयत्न जगत के पालन के लक्ष्य से ही आरंभ हुआ। पश्चात्, जगत के पालन के लिए प्रयोजनीय अन्य धर्म सहकारी के रूप में प्राप्त हुए। वास्तव में सहकारी या अंग का मूल्य--महत्व उसी दशा में माना जाता है जब उससे वास्तविक लक्ष्य की पूर्णसिद्धि हो। मीमांसकों ने सहकारी या अंग का जो विवेचन किया है उससे यह बात अधिक स्पष्ट हो जायेगी। उनका कहना है **‘अङ्गत्वं च परोद्देश्यप्रवृत्तकृति-कारकत्वेन विहितं यत्तत्वं तदङ्गत्वम्’** अंग का सारा कार्य सहायक रूप में जहाँ किसी प्रधान लक्ष्य के ही लिए निर्धारित हो, वहीं ‘अंगत्व’ संज्ञा लागू होती है। इस आधार पर संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि हमारे वर्णाश्रम धर्म की सफलता तभी है जब उससे क्षात्र धर्म की सुस्थिति संभव हो सके। यदि क्षात्र धर्म की वैसी सुस्थिति संभव नहीं हो पाती तो वर्णाश्रम धर्म की

अष्नुठान व्यर्थ है। मीमांसकों की उक्त विचार धारा का उपयोग केवल हमने ही यहाँ इस रूप में नहीं किया है वरन् पूर्व के आचार्यों ने भी--

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' और

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

इन वचनों के अन्तर्गत उसका पूर्णरूप से उपयोग कर रखा है। इनमें कहा है कि वेदाध्ययन आदि वर्णाश्रमधर्म के अनुष्ठानों की सफलता इसी में है कि ब्रह्म जिज्ञासा या भगवद्‌कथामें श्रद्धा उत्पन्न हो। अंग और अंगी का सम्बन्ध समझाने के लिए ही ऊपर कह आये महाभारत के वचन में 'शेषभूताश्च धर्माः' ऐसा शब्द उपस्थित किया गया है। इस वच्न में प्रयुक्त 'शेष' शब्द 'अंग' का पर्यायवाची ही है जैसा कि मीमांसकों ने 'शेषत्वं अंगत्वं' की परिभाषा में कह भी रखा है। इस 'अंगत्व' शब्द के निर्देश से ही महाभारत के उपर्युक्त वचन में व्यवस्थासूचक 'विधि' की बात कही गयी है। ऐसे क्षात्रधर्म की उपेक्षा करना न केवल अनुचित ही है वरन् उससे ईश्वराज्ञा के उल्लंघन का पाप भी सिर पड़ता है।

क्षात्र धर्म की सही व्याख्या जो नहीं जानते वे ऐसा आक्षेप करते हैं कि 'प्राचीन आचार्यों और महाभारत के अनेक वचनों द्वारा यह स्पष्ट होता है कि वर्णाश्रम धर्म के लक्ष्य अनेक हैं। तब इनमें से क्षात्रधर्म के पोषण के लक्ष्य को त्याग कर, अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए ही क्यों न हम वर्णाश्रम धर्म का उपयोग करें? क्षात्र धर्म की ही ओर ध्यान देने की क्या जरूरत है? वह तो क्षत्रियों का धर्म है, अतएव क्षत्रियों को ही उधर ध्यान देना चाहिये।'

पर, क्षात्रधर्म की ऐसी व्याख्या ठीक नहीं। क्षात्रधर्म का स्वरूप बहुत व्यापक है। उसका अर्थ है "जीवोंका अर्थात् जगत् का यथावत परिपालन।" इस बारे में विचार-शील जन कभी ऐसी धारणा नहीं बना सकते कि "जगत् का परिपालन हो या न हो, हमारा क्या बिगड़नेवाला है? उलटे, वे तो ऐसा कहेंगे कि "जगत् से हम बाहर कहाँ है? जगत् के ही पालन का मतलब हमारा भी पालन है।" देश के

सुरक्षित रहने में ही उसके अवयव, व्यक्ति, धन इत्यादि की सुरक्षा बनी रहती है। इसलिए यदि क्षत्रिय रक्षा के कार्य में असमर्थ हो जाता है तो स्वयं अपनी ही रक्षा की दृष्टि से भी, अन्य प्राणियों के रक्षण की उपेक्षा ठीक न होगी। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को उसका विशिष्ट धर्म पालनीय है उसी प्रकार सामान्य धर्म भी उसके लिए कर्तव्य हो जाता है। कामन्दक ने कहा भी है—

"अहिंसा सूनृता वाणी सत्यं शौचं दया क्षमा।
वर्णिनां लिंगिनां चैव सामान्यो धर्म उच्यते" ॥

इन छः धर्मों के पालन का उद्देश्य भी जीवों के परिपालन के सिवा दूसरा क्या कहा जायगा ? इससे तो नवमतवादी भी सहमत ही होंगे। हमारी इस तर्कना का समर्थन धर्मशास्त्र के निबन्धों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ, याज्ञवल्क्य ने व्यवहाराध्याय के आरम्भ में कहा है—

"व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह।
धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः" ॥

इस विधि वाक्य का तात्पर्य यह है कि राजा न्यायालय में वादी-प्रतिवादी के मामलों का निर्णय विद्वान् ब्राह्मणोंको साथ लेकर करे। इसी प्रसंग में याज्ञवल्क्य का दूसरा भी वचन है कि—

"श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः" ॥

(अर्थात्, राजा ऐसे धर्मज्ञ सत्यवादी वेदाध्यायी को सभासद बनायें जो शत्रु और मित्र के प्रति समदृष्टि रखनेवाले हों।) इन दोनों ही वचनों में राजा के लिए यह कर्तव्य बतलाया है कि निर्णय में वह विद्वानों को साथ ले। परन्तु, यहाँ यह शंका पैदा हो सकती है कि दो जगह एक ही बात दो ढंग से क्यों कही गयी ?

ऊपर के दूसरे वचन में कहा गया है कि राजा किन्हीं विद्वानों को अपनी सभा का सदस्य बनाये। इसी आधार पर मिताक्षरादि टीकाकारों का कहना है कि याज्ञवल्क्य के प्रथम वचन में आये "ब्राह्मणैः" शब्द की व्याख्या "अनियुक्त" (वेतन न लेनेवाला) ब्राह्मण है। वेतन लेकर राजा की सभा में प्रविष्ट होनेवाले विद्वान् (सभासद) और किसी विशेष प्रसंगवश, बिना वेतन लिये, राजा की सभा में उपस्थित होनेवाले विद्वान स्वतंत्र अर्थात् "अनियुक्त" ठहरेंगे। इस विवेचन से उपर्युक्त शंका का समाधान हो जाता है। विरक्त अर्थात् स्वतंत्र विद्वानों का न्यायालय में जाना अनुचित प्रतीत होने के संबंध में वीरमित्रोदय आदि ग्रंथों में समाधान दिये हैं। उनका कहना है कि शासनारूढ़ नरेश से न्यायदान में चूक की आशंका हो अथवा प्रमाण रहते आवश्यक प्रमाण न मिल पाते हों, ऐसी दशा में "अनियुक्त" विद्वानों का कर्त्तव्य है कि स्वयं न्यायालय में उपस्थित होकर न्याय संगत प्रमाण प्रस्तुत करें और न्याय से वंचित पक्ष को न्याय सुलभ करायें। इस प्रकार, ऐसा विद्वान् अपना और राजा का भी लोक-परलोक सुधार लेगा, अन्यथा वह जानबूझ कर "जगतपालन विषयक उपेक्षा" के अपराध में दैवी दण्ड का भी भागी होगा। इससे यह प्रकट होता है कि धर्मशास्त्रीय निबंधकारों का मत भी जगत रक्षा के ही पक्ष में है।

महर्षि गौतम ने भी अपने धर्मसूत्र में इसी बात का अधिक स्पष्ट रूप में निर्वचन किया है। उनका कहना है कि जन्म से लगाकर मृत्यु पर्यन्त प्रत्येक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य गर्भाधान से लगाकर दाह संस्कार पर्यन्त ४८ संस्कारों द्वारा अपनी शुद्धि की साधना करे। इसके द्वारा उसे धर्म, अर्थ और काम की साधना के साथ ही अन्त में ईश्वर प्राप्ति का भी सुयोग हाथ लगेगा। इन ४८ संस्कारों में ४० संस्कार वैदिक और ८ उपर्युक्त सामान्य धर्म के हैं। इसमें महत्व की यह बात स्पष्ट रूप से आ गयी है कि सामान्य धर्म निष्ठापूर्वक अपनाये गये हों तभी ४० वैदिक संस्कारों द्वारा साधित शुद्धि सार्थक हो सकती है। सामान्य धर्म की उपेक्षा करके केवल वैदिक संस्कारों के ही समाश्रयण से वह ध्येय पूर्ण न होगा। तात्पर्य यह है कि स्वयं स्मृतिकार भी जगतरक्षण को ही मुख्य कर्त्तव्य मानकर प्राणी के उद्धार का मार्ग बतलाते हैं। क्षात्रधर्म के ऐसे व्यापक स्वरूप एवं महत्व को समझ लेने पर, नीतिशास्त्र की समन्वय पद्धति के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि अन्य आचार्यों ने

वर्णाश्रमधर्म के पालन का जो सुफल "विविदिषा", या "ईश्वर श्रद्धा" बतलायी है, वह भी इस क्षात्रधर्म से पृथक् नहीं है। ज्ञानी और ईश्वरभक्त यह दोनों ही अत्यन्त शान्त स्वभाववाले होने के कारण स्वाभाविक ही राग-द्वेष से दूर रह दया-अहिंसा आदि सामान्य धर्मों का पालन करते रहते हैं। इसी से भक्तजन ईश्वर की कृपा के भागी बनते हैं। श्रीमद्भागवत में भी कहा है—"यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः। तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयं"। (अर्थात् मैत्री आदि सदगुणों के कारण जिस पर भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होते हैं, उसी के चरणों पर सभी प्राणी स्वाभाविक ही उस प्रकार झुकने लग जाते हैं जैसे ढाल की ओर पानी अपने आप दौड़ता है।)

इस श्लोक में आये "आदि" शब्द का तात्पर्य क्या है, यह बात "विष्णुधर्मोत्तर पुराण" से ज्ञात हो जाती है। उसमें कहा है—

"सुशीलो भव धर्मात्मा मैत्रः प्राणिहिते रतः।
निम्नं यथाऽपः प्रवणाः पात्रमायान्ति सम्पदः" ॥

(अर्थात्, सुशील और धर्मात्मा रहकर प्राणियों के हित में लगे रहो। कारण, ऐसे ही योग्य पुरुष के पास सम्पत्ति उस प्रकार आती है जैसे ढाल की ओर पानी स्वयं खिचता है।)

सारांश यह कि सामान्य धर्मों का पालन न करनेवाला व्यक्ति न तो ज्ञानी ही हो सकता है और न ईश्वरभक्त ही। उसके हाथ केवल परिश्रम ही लगनेवाला है। भक्तमण्डली में सामान्य धर्म का पालन किस प्रकार स्वाभाविक ही चलता है, इसे साहित्यिक के शब्दों में देखें–

"यथाशक्ति परित्राणं दुःखिनामविशेषतः।
विना रागेण सर्वत्र सुखिनामनुमोदनम्" ॥

(अर्थात्, बिना भेदभाव के यथाशक्ति दुःखी जीव का रक्षण और बिना किसी लोभ के सुखी जीव का समर्थन करना चाहिये।) यह बात "भाव प्रकाशन" ग्रंथ में शान्ति का स्वरूप समझाने के प्रसंग में कही गयी है। इन सब बातों से यह सिद्ध

हो गया कि "वर्णाश्रम धर्म" जगत्परिपालनरूप "क्षात्रधर्म" का ही अंग है और वह क्षात्रधर्म हम सभी लोगों के लिए कर्त्तव्यरूप से पालनीय है।

इस प्रकार, बीच की उत्पन्न शंकाओं का समाधान कर लेने के अनन्तर अब हम "स्थिर संधि" के बारे में शेष बातों पर विचार करते हैं।

इतिहास साक्षी है कि भारतीय नीतिशास्त्र में वर्णित "स्थिरसंधि" का लाभ भारतीयों को ऐसा प्रबल मिला कि संपूर्ण जगत ही नहीं, स्वयं परमेश्वर के भी विश्वासपात्र वे बन सके। इसी के महान फलस्वरूप सम्पूर्ण निधियों के भी निधि स्वयं भगवान यहाँ अवतार धारण कर प्रत्येक भारतीय के घर-घर क्रीड़ा करते घूमे।

देशसेवी भारतीय समाज के बीच विश्व कल्याण परायण ब्राह्मणों ने यह बात स्वयं ही दिखला भी दी है कि "स्थिर संधि" कैसे की जा सकती है। ऐसे ब्राह्मणों की विश्वास पूर्वक सेवा करके ही जगत ने भी "स्थिर संधि" की शिक्षा प्राप्त की, जिससे सबका परम शान्तिपूर्ण जीवनक्रम चलता रहा। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर मनु का कथन है कि

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(अर्थात्, पृथ्वी के सब लोग इस देश में उत्पन्न ब्राह्मणों द्वारा अपने आचरण के लिए चरित्रों की शिक्षा ग्रहण करें।)

देशसेवा को ही ध्यान में रखकर जीवन बितानेवाले ब्राह्मणों को क्षत्रिय मनु ने कितना मान दिया है। इसका मूल कारण यही है कि उपर्युक्त "स्थिर संधि" की व्यवस्था बँधने द्वारा ही राष्ट्र के सम्पूर्ण प्राणियों का सुखपूर्वक एकात्म भाव में उल्लसित रह पाना संभव होता है। यह बात तो पूर्व में ही सिद्ध की जा चुकी हैं कि "स्थिर संधि" के लिए आवश्यक कही गयी चार बातों में एक "परलोक विश्वास" पर जनता की दृढ़ निष्ठा जरूरी है। "परलोक विश्वास" में "सिद्धान्त की अडिगता" हो उसका प्राण है। उस सिद्धान्त का सुव्यवस्थित निरूपण जिन अपौरुषेय प्रमाण-

मूर्धन्य वेदों में आया है, उनका संरक्षण अशक्यप्राय कठोर तपस्याओं द्वारा ब्राह्मणों ने सर्वसाधारण के लिए देश सेवा की भावना में किया और अपना कर्तव्य-निष्ठ आदर्श जीवन दुनिया के समक्ष रखा।

इस दृष्टि से राजा भोज ने ब्राह्मणों को जो नमस्कार किया वह यथार्थ ही है। उनका कहना है कि—

"उच्चैर्गतिर्जगति सिद्ध्यति धर्मतश्चेत्, तस्य प्रमा च वचनैः कृतकेतरैश्चेत्।
तेषां प्रकाशनदशा च महीसुरैश्चेत्, तानन्तरेण निपतेत् क्व नु मत्प्रणामः॥"

(अर्थात् जगत में अर्थ, काम की समृद्धि धर्म से ही होती है। धर्म का बोध नित्य शब्द अर्थात् वेदों से ही होता है। वेद का प्रकाशन ब्राह्मणों द्वारा होता है। ऐसी दशा में, हम उनके सिवा अन्य किसको प्रणाम करें ?)

इस प्रकार, उत्तरोत्तर गौरवभाजन हुए और आज भी जिन पर पूरा भरोसा किया जा सकता है ऐसे ब्राह्मणादि सनातनी भारतीय वर्ण इन दिनों सर्वत्र उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते हैं, यह कितनी पतन की दशा है। इसका कारण यही है कि "स्थिर संधि" के मूलभूत चारो साधनों को यह वर्ग भूल बैठा है। अतएव, वर्तमान स्थिति को ध्यान में लेकर यह बात आवश्यक प्रतीत होती है कि पूर्व परम्परा के स्वीकृत उपायों की ओर इस वर्ग का ध्यान दिलाया जाय।

"स्थिर संधि" के लिए निर्धारित ४ उपायों में से एक "प्रतिभू" अर्थात् "उत्तर-दायित्व" भी ऊपर कहा ही गया है। यह उत्तरदायित्व जन्मना ही इस वर्ग पर प्राप्त है। जो कर्तव्य भारतीयों पर, विशेषतः चारो वर्णों पर जन्मतः और परम्परा से ही प्राप्त है, उनकी जानकारी बनाये रखना तो प्राथमिक कर्त्तव्य है। वेदों का तात्पर्य प्रकाशित करनेवाली स्मृतियों में प्रजा संरक्षण का कार्यभार सृष्टिकाल से ही ब्राह्मणों ओर क्षत्रियों पर डाला गया है। इस बारे में मनु का कहना है—

"प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून्।
ब्राह्मणाय च राज्ञे सर्वाः परिददे प्रजाः॥

न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।
वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्या इति स्थितिः ।।

इसका अर्थ यह है कि प्रजापति ब्रह्मा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों की सृष्टि कर पशु संरक्षण का भार वैश्यों पर न्यस्त किया और ब्राह्मण एवं क्षत्रियों को प्रजा संरक्षण का कर्त्तव्य सौंपा। वैश्य को पशु संरक्षण विषयक कार्य में कभी उपेक्षा न करनी चाहिये। पशु संरक्षण के लिए यदि वैश्य कटिबद्ध हों तो इस कार्य में दूसरों को हाथ डालने की जरूरत नहीं। यही नियम ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के भी कर्त्तव्यों के बारे में लागू होगा। इससे आपाततः यह बात भी प्रकट है कि राजा के अभाव में प्रजा-रक्षण का कर्तव्य ब्राह्मण पर प्राप्त है। पर, आज स्थिति यह है कि वे इसकी उपेक्षा कर रहे हैं। इसका मतलब यह हुआ कि एक ओर वे ईश्वर के कोपभाजन हो रहे हैं और दूसरी ओर कर्त्तव्यच्युति द्वारा लोक में भी परिहास के पात्र बन रहे हैं। सारांश यह कि पूर्व से अद्यावधि चली आयी प्रजापालन की जिम्मेदारी भूलने की चीज नहीं है।

इसी प्रकार "स्थिर संधि" के चार उपायों में से एक "शपथ" की भी अवहेलना आज उक्त वर्ग द्वारा हो रही है। एक ओर तो विना चाहे ही प्रजापालन की जिम्मेदारी इस वर्ग के सिर लदी है, दूसरी ओर देवता, अग्नि, ब्राह्मण और बन्धुबांधवगण के समक्ष यह वर्ग ऐसी शपथ भी लेता रहता है कि हम प्रजापालनोपयोगी कतिपय कर्त्तव्यों का पालन करेंगे। इसलिए चारो वर्ण के लोगों को यह बात आजीवन भूलनी न चाहिये कि "स्थिर संधि" के बारे में तो उनका शपथ ग्रहण कार्य संपन्न भी हो चुका है। वह शपथ (प्रतिज्ञाएँ) अर्थात् 'प्रजा पालनोपयोगी कतिपय कर्त्तव्य' निम्नलिखित हैं—

"अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत" यह वेद की आज्ञा है और वेदानुयायी स्मृति का वचन है कि—

"गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः" ।। (मनु)

गर्भ से ही आठवाँ वर्ष लगाकर ब्राह्मण का, गर्भ से ग्यारह वर्ष में क्षत्रिय को, गर्भ से १२ वर्ष में वैश्य का यज्ञोपवीत करना चाहिये। इसी के अनुसार आज तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के यज्ञोपवीत-संस्कार सोल्लास हुए हैं। उनमें प्रत्येक ब्रह्मचारी को गुरु ने गायत्री मंत्र का उपदेश किया है। साथ ही, "दिवा मास्वाप्सीः, ब्रह्मचार्यसि, स्वाध्यायान्माप्रमदः, सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथिदेवो भव, कुशलान्न प्रमदितव्यम्, अपोऽशान, यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वयाउपास्यानि" इन वचनों के अनुसार राजनीतिक दृष्टि से उपयोगी एवं प्रजापालन के लिए आवश्यक उपदेश किये हैं। इनके प्रति प्रत्येक ब्रह्मचारी ने "बाढम्" (स्वीकार है) ऐसा कहकर गुरु, देवता, अग्नि, बन्धुबांधव आदि के समक्ष शपथ ले रखी है। शपथ के उक्त वाक्यों में यह प्रतिज्ञा की गयी है कि "हम दिन में न सोयेंगे, ब्रह्मचर्य रखेंगे, अपनी शाखा के अध्ययन में प्रमाद न करेंगे, सत्य बोलेंगे, धर्म का आचरण करेंगे, माता-पिता, अतिथि का सत्कार करेंगे, कल्याण-कार्य से विचलित न होंगे, जल का आचमन करेंगे, जो ब्राह्मणों के आदर्श आचरण हैं उनका पालन करेंगे।"

अब यदि हमारा आचरण उपर्युक्त शपथ के प्रतिकूल जाता है तो लोग हमपर विश्वास कैसे करेंगे? इस पर प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं विचार करना चाहिये। हम सभी के अन्तःकरण में स्थित भगवान् हमारे इस प्रमाद को देखकर वह स्वयं भी हमारी उपेक्षा किये बगैर नहीं रह सकते। सन्त जन प्रतिज्ञा का मूल्य समझते हैं और प्रतिज्ञा के अनुसार आचरण करते रहकर कीर्ति, लोकानुराग और पारलौकिक श्रेय प्राप्त करते हैं। इस बात के लिए धर्मराज युधिष्ठिर का उदाहरण सबके सामने है। उनका यही स्वरूप था कि संपत्ति चाहे रहे अथवा जाय पर एक बार जो जंबान से कह दिया उससे डिगेंगे नहीं। १३ साल तक वन में रहकर उन्होंने अपनी सत्यवादिता का लोक को स्पष्ट परिचय दे दिया। इसी आधार पर, यादव सहित संपूर्ण जनता की प्रियता प्राप्त कर यह सिद्ध कर दिया कि दुर्योधन दुष्ट वृत्ति का है और उसको दण्डभागी बनाकर देश को अन्याय के शिकंजे से मुक्त किया।

इस शपथ के बारे में वर्तमान में स्थिति यह है कि ब्रह्मचारी समझ-बूझकर शपथ ग्रहण नहीं करते वरन् गुरु ही ब्रह्मचारियों की अज्ञानावस्था में उनपर शपथ लाद

उन्हे शिकंजे में जकड़ देते हैं। इसलिए उपनयन-काल की शपथ का पालन न होने का अपराध शपथ लेनेवाले की अपेक्षा गुरु के सिर जाना ही संगत है, ऐसी आपत्ति उठ सकती है। इस बारे में कहना होगा, सर्वप्रथम यह समझ लेने की जरूरत है कि वृद्धजन एवं गुरुजन ने हम लोगोंको उपर्युक्त पद्धति के शिकंजे में फँसाया ही क्यों ? कह सकते हैं कि उन लोगों ने स्वतः उक्त पद्धति को देश हित की दृष्टि से नीति रूप में अनुष्ठान कर जगत् में उत्तम कीर्ति और लोकानुराग प्राप्त किया और इसी तथ्य को समझकर लड़कों के भी परम हित की दृष्टिसे उन्हें उसमें आबद्ध किया। पर, अपने भावी परम हित को न समझ, प्रमत्त हाथी की तरह मन को बेलगाम छोड़ देना और दोष गुरु के सिर मढ़ने की कल्पना करना यह पशु कोटि में उतरने की अभिलाषा ही कही जायगी। हमारे परम हित की दृष्टिसे बड़े लोगों ने जो व्यवहार निर्धारित किये उन्हें यदि हम स्वीकार करने को न तैयार हों तो फिर शिक्षण एवं जीवनादि को लक्ष्य में रखकर उन्होंने हमारे लिए धन के आय-व्यय की जो व्यवस्था की उसे ही क्यों स्वीकार करना ? शिक्षण आदि संबंधी आय-व्यय की व्यवस्था तो इसलिए मान्य करने में उत्साह होता है कि उससे जीवन का भविष्य सुन्दरतर बननेवाला है। यही बात यज्ञोपवीत के समय की शपथों के बारे में भी क्यों समझ में नहीं आती ? अपने यहाँ उद्धार के लिए गुरुदीक्षा की जो जरूरत बतलायी गयी है उसमें त्रैवर्णिकों के समान ही शूद्र के समक्ष भी गुरुदीक्षा में वही सामान्य धर्मों की शपथ ग्रहण करने की बात आती है। उत्तमोत्तम सन्तानों की अभिवृद्धि के लक्ष्य से विवाह के प्रसंग में माँ-बहिनों को भी देव, गुरु, अग्नि और बन्धु-बान्धवों के समक्ष बड़े लोगों के द्वारा शपथ का बन्धन प्राप्त होता है। ऐसे ही शपथों की पालनकर्त्री सीता-सावित्री आदि का सुयश जगत्विख्यात है।

प्रत्यक्ष, तर्क और शब्द इन तीनों ही प्रमाण आधारों से जिन बातों की परम हितकारिता सिद्ध है ऐसी ही बातें उपनयन और विवाह के प्रसंग से पूर्वजों ने हमें शपथ रूप में स्वीकृत करायीं। उन्होंने इनमें विधान या निषेध के रूप में अपने मन की कोई बात नहीं जोड़ी। अतएव उन शपथों की उपेक्षा सर्वथा ही अयोग्य है। उन शपथों को हृदयंगम कर अपने परम्परागत आचारों का पालन करने से ही

हम पर जगत् का पुनः वह विश्वास स्थिर रूप से जम सकता है जो आज उठता जा रहा है। यही अपने प्रति "स्थिर संधि" का अचूक मार्ग है। अन्यथा, दूसरे किसी भी प्रकार यह बात बनने की नहीं।

अब "स्थिर संधि" के लिए आवश्यक कही तीसरी बात "प्रतिग्रह" अर्थात् "जमानत की वस्तु" के बारे में भी ध्यान दें। हमारी शपथों और उत्तरदायित्व को ध्यान में लेकर एवं वर्णाश्रमी समाज के सुसंघटित व्यवहार को देखकर लोकहित की दृष्टि से ब्राह्मणादि वर्ग के पास देश ने मठ, मन्दिर, धर्मशाला आदि अनेक संस्थान जमानत की तौर पर सौंप रखे हैं। इतना ही नहीं, मूर्ति रूप में स्वयं भगवान ने भी अपना खान, पान, स्नान आदि तक सौंप रखा है जो देवालयस्थ मूर्तिपूजा विषयक शास्त्र से प्रकट है।

इस विवेचन से यह बात ध्यान में आ जायगी कि "स्थिर संधि" के लिए आवश्यक शपथ, प्रतिभू और प्रतिग्रह यह तीन बातें आज भी इस समाज के पास हैं और इनका मूल आधार "परलोक विश्वास" भी उसके पास है। पर, इन बातों को भूलकर समाज, विशेषकर प्रजापालन का अधिकारी ब्राह्मणवर्ग, वैसे ही पथ-पर जा रहा है जिस मार्ग को अपनाना नहीं चाहिये। इसी के परिणाम स्वरूप सर्वत्र कलह, फूट आदि बढ़ रही है। अन्त में, ऐसे समस्त दोषों का ठीकरा इसी वर्ग के सिर फूटनेवाला है। इस बारे में एक दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

मान लें कि एक गाँव में एक धनिक का हाथी मतवाला हो गया है। उसने गाँव में अपनी धमाचौकड़ी से नागरिकों एवं उनकी सम्पत्ति का सत्यानाश आरंभ किया। शासक इसके लिए हाथी के मालिक को ही उत्तरदायी मानकर दण्डित करेगा, न कि हाथी को। इसी प्रकार, कुपथगामी होकर समाज यदि अधोगति को प्राप्त होता है तो इसके लिए उत्तरदायी समाजधुरीण वर्ग पर कोड़ा चलाने के निमित्त विरोधी वर्ग तैयार ही बैठा है और वह सहज छोड़नेवाला भी नहीं। उपर्युक्त बातों को भूलना जनता के प्रति घोर विश्वासघात और उसे अपना शत्रु बना लेने का सबसे बड़ा रास्ता ही है। मनु का भी कहना है कि ब्राह्मणों का आचार दूषित होने से ही समाज दूषित होता है—

"शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च।"

(अर्थात्, ज्ञान सम्पन्न एवं क्रियानिष्ठ ब्राह्मणों के अदर्शन से तथा शनैः शनैः क्रिया के लोप से ही क्षत्रिय जाति का जगत में अधःपात हो गया।)

वेद प्रामाण्य के प्रति जिनका विश्वास नहीं, उनके प्रति हमें कुछ कहना नहीं है। परन्तु, जिन लोगों का विश्वास है उन्हीं के लिए "स्थिर संधि" की चार बातों का स्मरण दिलाने का यहाँ प्रयत्न किया गया है। इनकी उपेक्षा से ईश्वर एवं समाज का प्रबल कोप होगा। ऐसा समझकर वेदनिष्ठ लोग भारतीय राजनीति के प्रति पूरी तरह ध्यान दें, ऐसा हमारा साग्रह निवेदन है। आज की बिगड़ी स्थिति का सुधार कैसे हो, इसे अपने ही बुद्धिबल से निश्चित कर पाना कठिन है। तथापि, हम नीतिशास्त्र के आधार पर अन्त में बतलायेंगे कि इस बिगड़ी स्थिति की सँभाल का प्रारंभिक उपाय क्या है ? वास्तव में, नीति जिज्ञासा का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है, जिसने सत्य, प्रतिग्रह, प्रतिभू और शपथ यह चार बातें अपना रखी हों। जिस प्रकार शम-दम आदि साधन चतुष्टय से सम्पन्न व्यक्ति को ही ब्रह्म उपदेश सफल होता है, उसी प्रकार भारतीय राजनीति के उपदेश भी सत्यादि चार बातों को अपनाने वाले के लिए ही प्रयोजनीय होंगे। पाश्चात्य राजनीति की उलझनें और भारतीय नीति के अनुसार उनके समाधान का जो प्रश्न आरम्भ में ही उठा था, उसमें एक "स्थिर संधि" विषयक अड़चन का समाधान आचार्य चाणक्य द्वारा हजारों वर्ष पूर्व ही बतलायी विधि से यहाँ प्रस्तुत किया गया।

अब आगे सर्वांग सुन्दर भारतीय विचार सरणी की दूसरी झलक प्रस्तुत की जा रही है। इस प्रसंग में, पाश्चात्य शैली का प्रचलित निर्वाचन, भारतीय निर्वाचन शैली से उसका समन्वय, पाश्चात्य निर्वाचन शैली की त्रुटियाँ और भारतीय शैली से उसका निवारण यहाँ उपस्थित किया जायगा।

शासन सभा में ऐसे ही मंत्रियों की आवश्यकता होती है जो लोकमत को ध्यान में रखकर कार्य करने में परम पटु हों। इसे सभी मानते हैं। समाज जिनके विशिष्ट गुणों को राष्ट्र के हित के लिए उपयोगी समझता है ऐसे ही योग्य व्यक्तियों

को वह चुनाव के अवसर पर मतदान करता है। इस प्रकार से जनमत द्वारा निर्वाचित व्यक्ति शासनसभा में जाते हैं। यही चुनाव की पद्धति है। राजनीतिशास्त्र में यह बतलाया गया है कि जनमत द्वारा निर्वाचित होकर शासनसभा में जानेवाले व्यक्ति के लिए ऐसे कौन-कौन से राष्ट्रहितैषी गुण आवश्यक हैं, जिन्हें जनता ध्यान में लेती है। कामन्दक का कहना है—

"स्ववग्रहो जानपदः कुलशीलबलान्वितः ।
वाग्मी प्रगल्भश्चक्षुष्मानुत्साही प्रतिपत्तिमान् ॥
स्तम्भचापलहीनश्च मैत्रः क्लेशसहः शुचिः ।
सत्यसत्वधृतिस्थैर्यप्रभावारोग्यसंयुतः ॥
कृतशिल्पश्च दक्षश्च प्रज्ञावान् धारणान्वितः ।
दृढभक्तिरकर्ता च वैराणां सचिवो भवेत् ॥
स्मृतिस्तत्परतार्थेषु वितर्को ज्ञाननिश्चयः ।
दृढ़ता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिसम्पत्प्रकीर्तिताः ॥"

उपर्युक्त श्लोक में मंत्री के ३३ गुण बतलाये गये हैं। इसमें मंत्री और सचिव दो भिन्न शब्दों के प्रयोग से दो श्रेणियों का संकेत किया गया है। प्रथम श्रेणी में मंत्री आता है, जिसके लिए निम्नलिखित ३३ गुण अपेक्षित कहे गये हैं—नियंत्रण प्रियता, स्वदेशजन्मा, कुलीन, सुशील, सैनिकवृत्तिवाला, वाक्कुशल, निर्भीक, शास्त्रज्ञ, उत्साही, प्रत्युत्पन्नमति, निरभिमान, चापल्यरहित, मैत्रीवर्धक, कष्टसहिष्णु, परीक्षाशुद्ध, सत्यनिष्ठ, नीतिमार्गानुसारी, धीर, सुस्थिर, प्रतापी, निरुज, शिल्पज्ञ, निरलस, बुद्धिमान्, धारणावान्, स्वामिभक्त, विरोधवारक, याद का पक्का, तुरत निर्णय की क्षमता, विचारशील, अचूक परखवाला, कार्य सम्पन्न करने में दृढ़ और रहस्यगोपनक्षम। दूसरे, सचिव श्रेणी के लिए आरंभ के २७ गुण ही पर्याप्त कहे गये हैं।

इन उपर्युक्त गुणों में यदि मंत्री के पास एक दो भी गुण की कमी रही तो उतनी त्रुटि उसके शासन व्यवहार में आने ही वाली है।

मंत्री में किसी प्रकार का व्यसन न होना चाहिये। यदि कोई व्यसन रहा तो उससे वह अपना और राष्ट्र का अहित ही करेगा। इसलिए विविध व्यसनों के बचाव के निमित्त भी उपर्युक्त गुणों का विशेष प्रयोजन है। यह दोनों बातें खास तौर से ध्यान में लेने पर उपर्युक्त गुणों का सार्थक्य विशेष रूप से समझ में आ सकेगा। मंत्रियों के व्यसन राज्य के लिए विघातक सिद्ध होते ही हैं, यह बात कटु सत्य है। मंत्रियों के व्यसनों में मुख्यतः कटुभाषण, कठोरदण्ड, प्रलोभ, शराब, स्त्री, शिकार, जुआ, आलस्य, अकड़, अभिमान, प्रमाद और कलहप्रियता इन १२ की चर्चा की गयी है, जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से प्रकट है --

"वाग्दण्डयोश्चपारुष्यमर्थदूषणमेव च।
पानं स्त्री मृगया द्यूतं व्यसनानि महीपतेः।।
आलस्यं स्तब्धता दर्पः प्रमादो वैरकारिता।
इति पूर्वोपदिष्टं च सचिवव्यसनं स्मृतम्।।"

(नीतिसार, १४ सर्ग)

इन १२ व्यसनों द्वारा संभावित संकटों के पंजों से छुटकारे के लिए उपर्युक्त गुणों का कैसा सदुपयोग है, यह नीतिसार तथा जयमंगला आदि टीका ग्रंथों में देखे जा सकते हैं। यहाँ उनका उल्लेख अनावश्यक है। यहाँ तो पाश्चात्य चुनाव पद्धति, उसके दोष एवं परिहार पर ही विचार करना है।

मनुष्य की कीमत केवल उसकी शरीरधारिता से ही नहीं वरन् उसके गुणों के कारण हुआ करती है। हितोपदेश का भी ऐसा ही कहना है—"**गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः**"। शासन सभा में जिनके सिर पर शासन भार न्यस्त करना है उनके गुणों की परीक्षा नरेश को अथवा नरेशस्थानीय जनता को करनी ही चाहिये। अन्यथा, यह बात समझ में कैसे आ सकेगी कि शासन सभा में जाने वाले व्यक्ति के भीतर कितने गुण हैं और कितने की कमी है? इसी बात को ध्यान में रखकर कामन्दक ने भी शासन सभा में जानेके अभिलाषी प्रत्येक सदस्य की गुणपरीक्षा का विधान किया है, जो यों है—

"उपेत्यधीयतेयस्मादुपधेति ततः स्मृता।
उपाया उपधा ज्ञेया तया ऽमात्यान् परीक्षयेत् ॥"

इस श्लोक का मतलब यह है कि जिस प्रकार किसी लाल फूल के संपर्क में पड़कर स्फटिक मणि स्वयं भी लाल रंग की दीखने लगती है उसी प्रकार स्फटिक मणि जैसे उम्मीदवार शासन-सदस्य की गुण परीक्षा विविध रंग के व्यक्तियों को भेजकर करनी चाहिये और देखना चाहिये कि वह अपना रंग छोड़कर आगंतुक के रंग में फँस जाता है या नहीं। परीक्षा के उपायों का ही नाम "उपधा" है। ऐसी परीक्षाएँ चाणक्य के कथनानुसार तीन प्रकार की होती हैं। प्रथम में राजा अथवा नरेश-स्थानीय जनता स्वयं अपनी आँखों उम्मीदवार को देख गुणों की परीक्षा करती है। दूसरे में तर्कना अर्थात् युक्तियों द्वारा परीक्षा ली जाती है और तीसरे में शाब्दिक प्रमाणों पर परीक्षा सम्पन्नता मान ली जाती है। (प्रत्यक्ष परोक्षानुमेया हि राजवृत्तिः स्वयंदृष्टं प्रत्यक्षं, परोपदिष्टं परोक्षम्, कर्मसु कृतेन अकृतावेक्षणं अनुमेयम्।)

किन गुणों की परीक्षा उपर्युक्त तीन प्रणालियों में से किसके द्वारा हो सकती है, अब इसे कामन्दक के निरूपणानुसार देखें। प्रत्यक्ष परीक्षा प्रणाली द्वारा "**प्रागल्भ्यं प्रतिभां तथा। कथायोगेषु बुध्येत वाग्मित्वं सत्यवादिताम्। वैराणामप्यकर्तृताम्। प्रत्यक्षतो विजानीयात् भद्रतां क्षुद्रतामपि**" निर्भीकता, प्रतिभा, वाक्पटुता, सत्यवादिता, विरोधवारक वृत्ति, लोकप्रियता और क्षुद्रता इन ७ गुणों की परीक्षा ली जानी चाहिये। इन परीक्षाओं के लिए वाद-विवाद-गोष्ठी का आयोजन किया जाय, जिसका संकेत "कथायोगेषु" शब्द द्वारा किया गया है। ऐसी गोष्ठी में स्वयं उपस्थित होकर वादी-प्रतिवादी की योग्यता का निरीक्षण करना चाहिये। परीक्षणात्मक विचारगोष्ठी में बोलने के मौके पर वैसे वक्ताओं की भी नाड़ी ढीली पड़ सकती है, जो साधारण सभाओं में वक्तृत्व झाड़ लिया करते हैं। इस पद्धति के क्रम में व्याख्यानादि-द्वारा वाक्-सौष्ठव का भी परीक्षण हो जाता है। ऐसे प्रत्यक्ष परीक्षण में उपर्युक्त गुणों का परिचय मिल जाने पर उम्मीदवार का आदर करना ही चाहिये।

तर्क द्वारा किन गुणों की परीक्षा हो सकती है, इसका भी निर्देश नीतिसार में यों मिलता है—

"उत्साहं च प्रभावं च तथा क्लेशसहिष्णुताम् ।
धृतिं चैवानुरागं च स्थैर्यं चापदि लक्षयेत् ।
भक्तिं मैत्रीं च शौचं च जानीयात् व्यवहारतः ॥"

(अर्थात्, विपत्ति और व्यवहार के प्रसंगों में तर्क द्वारा उत्साह आदि उपर्युक्त गुणों की परीक्षा संभव होती है ।) विपत्तियों का पहाड़ फट पड़ने पर भी अपने कर्त्तव्य में अडिग रह उसे पूरा करनेवाले व्यक्ति के पास उत्साह,प्रभाव और क्लेशसहिष्णुता गुण किस मात्रा में हैं, इसका निर्णय हो जाता है ।

"प्रारंभ किये कार्य को उत्तम जन बीच में नहीं छोड़ते" इस उक्ति के अनुसार जो व्यक्ति विचारपूर्वक कार्य आरंभ करता और समाप्ति पर्यन्त पीछे नहीं हटता, इससे किसी भी कार्य के प्रति उसके अनुराग,दृढ़ता और गंभीरता का अनुमान सहज किया जा सकता है । किसी जिम्मेदारी के काम को सौंपकर पीछे धन का गुप्त रूप से प्रलोभन पहुँचाते हुए, यह देखना चाहिये कि वह शत्रु के पक्ष में मिल जानेवाली नीयत का व्यक्ति है या नहीं । यदि वह इस जाल में न फँसे तो भक्ति, मैत्री और शुद्धि इन तीनों ही बातों में उसके खरे होने का अनुमान किया जा सकता है। इन तर्कों के प्रति दो मत नहीं हैं । आज का अधिकारी वर्ग भी इन उपायों से काम लेता ही रहता है। रघुवंश आदि काव्य और पुराणों में ऐसे वर्णन मिलते हैं कि नरेशों ने अपने पुत्र के गुण की परीक्षा कर लेने के अनन्तर ही उसे युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया । तात्पर्य यह है कि उत्साह, प्रताप, क्लेशसहिष्णुता, धैर्य, प्रेम, दृढ़ता, भक्ति, मैत्री और शुचितागुणों की परीक्षा अनुमान द्वारा हो सकती है ।

परीक्षण का तीसरा प्रकार "शब्द" है । यह परीक्षा लोकमत द्वारा होती है। इसमें निम्नलिखित गुणों के संबंध में परीक्षा ली जा सकती है—

"साधु तेषाममात्यानां तद्विद्येभ्यश्च बुद्धिमान् ।
चक्षुष्मत्तां च शिल्पं च परीक्षेत गुणद्वयम् ।

३

स्वजनेभ्यो विजानीयात्कुलं स्थानमवग्रहम् ।
परिकर्मसु दाक्ष्यं च विज्ञानं धारयिष्णुताम् ।
गुणत्रयं परीक्षेत............
संवासिभ्यो बलं सत्त्वमारोग्यं शीलमेव च ।
अस्तब्धतामचापल्यम्"

शासन-सभा के उम्मीदवार के ऐसे गुणों की परीक्षा में लोकमत जानने के लिए तीन विधियाँ निर्धारित हैं। एतदर्थ (१) विद्वानों का बहुमत, (२) नागरिकों का बहुमत और (३) स्वजातियों का बहुमत पृथक्-पृथक् गुणों के परीक्षण के लिए आवश्यक होगा।

असाधारण समस्याओं और जटिल प्रसंगों के उपस्थित होने पर केवल बुद्धि बल या व्यावहारिकता के सहारे कोई निराकरण संभव हो सकता नहीं। ऐसे प्रसंगों में मुकाबले के लिए विद्वत्ता आवश्यक है। कारण, सभी प्रकार की अड़चनों का निराकरण शास्त्रों में ही मौजूद है। किरातार्जुन में भारवि का कथन है—

"मतिभेदतमस्तिरोहिते, गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम् ।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थ दर्शनम् ॥"

(अर्थात्, ऐसी जटिल समस्या उत्पन्न हो जाने पर, जिसमें बुद्धि काम न करे, उसमें विवेकियों को वेद-शास्त्र ही दीपक की भाँति शुद्ध मार्ग दिखलाता है।)

इसलिए उम्मीदवार का विद्वान होना आवश्यक है और विद्वत्ता की परीक्षा में विद्वानों के ही बहुमत का आदर हो सकता है। इस संबंध में सर्व साधारण के मतों का कोई प्रयोजन नहीं। इसका व्यवहार आज भी देखा ही जाता है कि विश्व विद्यालयों आदि के प्रमाणपत्रों के आधार पर उच्च पदों पर नियुक्तियाँ होती हैं। "साधु तेषाममात्यानाम्" इत्यादि उपर्युक्त वचन का तात्पर्य यही है। इस प्रकार विद्या और शिल्प इन दो गुणों की परीक्षा हो जायगी। यहीं पर इस प्रसंग में यह बात स्पष्ट समझ लें कि भारतीय और पाश्चात्य नीति में इस बारे में बड़ा मतभेद है। भारतीय नीति चाहती है कि शासन सभा का प्रत्येक उम्मीदवार पूर्ण विद्वान्

हो। पर, प्रचलित पाश्चात्य नीति इसे जरूरी नहीं समझती। वह शासन सभा में विद्वानों के कुछ गिने चुने ही प्रतिनिधि लेकर सन्तोष करती है। अन्य साधारण जनता के बहुमत के आगे विद्वानों का मत चल पाये या न चल पाये इसकी परवा नहीं करती। शासन सभा में विद्वानों का बहुमत न रहने का यह दुष्परिणाम अनिवार्य है कि राजकार्य में एकसूत्रता न रहकर विच्छृंखलता फैले। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि यह पाश्चात्य नीति की महान् त्रुटि है।

विद्या और शिल्प की परीक्षा के सिवा लोकमत की भी जानकारी जरूरी है। लोकमत की गणना (निर्वाचन) की पद्धति आजकल ही चलती है, ऐसी बात नहीं है। भारतीय शास्त्रों में "संवासि मत" शब्द से इसका निर्देश पाया ही जाता है। लोकमत का मतलब यह है कि जिस क्षेत्र में उम्मीदवार रहता हो उस क्षेत्र के लोग इस बात पर अपना मतदान करें कि वह शासनसभा का सदस्य होने का पात्र है। लोकमत की जानकारी प्राप्त करने का इसमें रहस्य क्या है, इसे देखें।

कोई सभ्य नागरिक किसी स्थान पर अपनी गृहस्थी जमाने से पूर्व यह देख लिया करता है कि पास पड़ोस के निवासी शीलवान हैं या नहीं? कारण, उसे अपने जीवन, स्त्री, पुत्र, धन आदि के संरक्षण की चिंता होती है। जिस प्रकार सर्पों के निवासवाले घर में रहना खतरनाक है उसी प्रकार दुष्टों के पड़ोस में रहना भी खतरनाक ही है। इसमें न केवल स्त्रियों के सतीत्व रक्षा का ही संकट होता है वरन् प्राणरक्षा तक कठिन होती है। यदि अदालत में मुकदमा करने की बात भी सोचें तो ऐसे स्थान में गवाह तक न मिल पायगा। इसीलिए जहाँ बलवान् और सुशील लोग निवास करते हैं वहीं उनकी छत्रच्छाया में आकर अन्य लोग भी बसा करते हैं। सज्जनों के सहवास से अन्य लोगों के स्वभाव में भी सभ्यता का संचार होता है और परस्पर में सभी के सुख की व्यवस्था बँध जाती है। यही नगर-रचना का क्रम है। इसीलिए कामसूत्र में भी कहा है "नगरे पत्तने खर्वटे वा महति सज्जनाश्रये स्थानम्।"

अतएव, नरेश को (अथवा नरेश स्थानीय जनता को) पहले इसी बात का विचार करना चाहिये कि जनता के स्थायी विश्वास का पात्र बननेवाला सुशील

व्यक्ति रहता किस स्थान पर है ? कारण, ऐसे ही योग्य व्यक्ति के चुनाव से नरेश अथवा शासन का महत्व और उसपर लोकविश्वास बढ़ता है। निर्वाचन द्वारा देखने की बात यही है कि ऐसा निर्विरोध, निर्दोष और सुशील व्यक्ति कौन है जिसे शासन-सभा के लिए ग्रहण किया जाय। सुशीलता, बल, सत्त्वगुण और आरोग्य की परीक्षा दूर के निवासी ठीक से नहीं कर सकते। ये बातें निकटवर्ती ही जान सकते हैं। इसी तथ्य पर प्रकाश डालने के लिए—

"पश्य लक्ष्मण पम्पायां बकः परम-धार्मिकः।
शनैः शनैः पदं धत्ते जीवानां वधशंकया ॥"

की चर्चा आयी है। इसमें श्रीरामने लक्ष्मणजी को संकेत करके कहा है— देखो, लक्ष्मण इस पंपासर के बगुले तक कितने धार्मिक हैं। उनसे जीवों की हत्या न हो जाय, इस डर से धीरे-धीरे कदम उठा और रख रहे हैं। इसके उत्तर में मछली के व्याज से महत्त्व की उपर्युक्त भारतीय नीति का ही संकेत किया गया है कि "सहवासी विजानाति चरित्रं सहवासिनः" अर्थात् बगुले के साथ में रहनेवाली हम मछलियाँ ही बतला सकती हैं कि बगुले का चरित्र कैसा है और वह क्यों धीरे-धीरे कदम रखता है। इस लक्ष्य से राजनीतिज्ञों ने जो निर्वाचन पद्धति चला रखी है वह ठीक ही है। कारण, इसी मार्ग से उम्मीदवार के बल, सत्व, आरोग्य, शील, अभिमानशून्यता और अचापल्य गुण की परीक्षा हो सकती है। अर्थशास्त्र में इन गुणों का निरूपण किस प्रकार किया गया है, इसे भी देखें।

युद्ध आदि जैसे बड़े कार्यों को करने की सामर्थ्य का ही नाम बल है। सत्त्व तो अत्यन्त महत्वपूर्ण अथवा कहा जाय तो वह राजनीति का प्राण ही है। इस पर स्वतंत्ररूप से आगे विचार किया जायगा। संक्षेप में, सत्त्व का तात्पर्य "शंका-कुशंका न उठा नीति के अनुसार कार्यों का संपादन करते रहना" ही है। आरोग्य से तात्पर्य यह है कि शरीर में बात, पित्त, कफ और रक्त आदि सात धातुओं के न्यूनाधिक्य की कोई शिकायत न रहे। इस बारे में योगशास्त्र और आयुर्वेद-शास्त्र में बहुत-कुछ कहा ही गया है। शील से तात्पर्य अच्छे स्वभाव से है जो सत्त्व का निदर्शक होता है। इन गुणों का परिचय पास पड़ोसवालों को ही रहता है और

प्रकृत्या ऐसे गुणों से युक्त व्यक्ति को जनता भी बिना पैरवी के ही स्वेच्छया मतदान करती है। वैवस्वत मनु न तो स्वयं राज्यपद चाहते थे और न उन्होंने एतदर्थ कोई प्रयत्न या प्रचार ही किया। पर, आपस को लूट-खसोट से परित्रस्त प्रजा ने ही अपने आग्रहपूर्वक उन गुणशील को अपना शासक बनाया। जैसा कि **"मात्स्य न्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे"** से स्पष्ट है। यही बात ऊपर कह आये "संवासिभ्यो वलं सत्वं" वचन में निर्दिष्ट है। इतनी बातों में भारतीय राजनीति से पाश्चात्य राजनीति का भी ऐकमत्य देखा जाता है।

पर, केवल इतनी ही परीक्षा से उम्मीदवार की योग्यता मान लेना और उसे शासनसभा में पदासीन कर देना भारतीय नीति की दृष्टि से घोर त्रुटिपूर्ण है। कहा जाय तो जगत के लोग आज इसी त्रुटि के कुपरिणामों का ही फल भुगत भी रहे हैं। भारतीय राजनीति ने ही ऐसी त्रुटि के निवारण का मार्ग भी बतलाया है।

त्रुटियों की चर्चा में कहा जा सकता है, उपर्युक्त प्रकार की परीक्षाओं में सफल उम्मीदवार शासनसभा में पदासीन और मंत्रिपद पर आरूढ़ होने की दशा में संभव है सम्मान, सत्ता, धनादि के मद वश, धीरे-धीरे अपना रवैया बदल बैठे। यह दावा करना सर्वथा ढोंग ही होगा कि वह अपना स्वभाव बदल सकता नहीं। धन एवं सत्ता का मद मनुष्यों में स्वाभाविक ही है, जिससे बड़े लोगों का अनादर, अपमान आदि अनायास आरंभ हो पड़ता है। इसी बात को चाणक्य ने संक्षेप में एक घोड़े के उदाहरण से प्रस्तुत किया है। उनका कहना है—

"अश्वसधर्माणो हि मनुष्याश्चित्तानित्यत्वात्कर्मसु नियुक्ता विकुर्वते" (अर्थात् मनुष्य का चित्त भी घोड़े की तरह चंचल होता है। घोड़े की ही तरह वह भी कार्य नियोजित होने पर इधर-उधर करने लग जाता है।)

इस सूत्र में आये "चित्तानित्यत्वात्" शब्द बड़े महत्त्व के हैं। वस्तुतः मनुष्य के संस्कार अच्छे रहते भी कोई विशेष निमित्त आ जाने पर वे दब भी जाते हैं। जो संस्कार मूलतः उद्भूत होते हैं, उन्हें 'स्वभाव' कहा जाता है और विशेष निमित्तों के कारण, स्वभाव को दबाकर, जो संस्कार नये प्रकट होते हैं उन्हें "चित्त" कहा जाता है। नीतिसार के भी "स्वभाव चित्तज्ञतया युक्तं" (१९,३६) इस श्लोक की व्याख्या में **"तत्र अश्वादीनां सहजो धर्मः स्वभावः आकस्मिकश्चाभिप्रायश्चित्तम्"** ऐसा

कहा है। श्री शंकर आर्य का 'स्वभाव' और 'चित्त' की व्याख्या में कहना है कि अश्व आदि के मूल संस्कार ही स्वभाव हैं और निमित्त विशेष से आकस्मिक संस्कारों के उदय को "चित्त" कहते हैं। "चित्त" किस प्रकार "स्वभाव" को दवा लेता है इसे उदाहरण द्वारा भी देखें। अर्जुन में मूल संस्कार क्षत्रियत्व के अर्थात् "युद्ध के" होते हुए भी महाभारत युद्ध का अवसर आने पर वह धनुष-बाण छोड़ बैठा था और श्री कृष्ण से कहने लगा था–"गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते" गाण्डीव हाथ से गिरा जा रहा है और खाल जल सी रही है। इस प्रकार का दैन्य और युद्ध विषयक असमर्थता के भाव वह श्री कृष्ण के सम्मुख प्रकट करने लगा। इस घटना से स्पष्ट है कि प्रसंगविशेष के संस्कार 'चित्त' ने अर्जुन के मूल क्षत्रियत्व के संस्कारों को दबा दिया। तत्वज्ञानी श्री कृष्ण ने भी यह बात अच्छी तरह समझकर ही अर्जुन को ज्ञानोपदेश किया कि ज्ञानी धार्मिक मनुष्य पर 'चित्त' जैसे बाहरी संस्कार स्थिर प्रभाव नहीं जमाये रह सकते। इसी-लिए उनके उपदेशों से आकस्मिक मलिनता दूर होकर मूल स्वभाव सहज ही निखर आया। लेकिन 'चित्त' को बदलने का यह उपाय केवल ज्ञानी धार्मिक मनुष्य के लिए ही संभव है। जो व्यक्ति अर्जुन जैसी श्रेणी के योग्य नहीं हैं वे उच्च पदारूढ़ होकर विगड़ें नहीं, इसके लिए उनके समक्ष किसी न किसी प्रकार का 'जबरदस्त भय' रखना अत्यन्त आवश्यक है।

अर्थशास्त्र में ऐसे ही "अंकुशों" की व्यवस्था बतलायी है। यही भारतीय राज-नीतिशास्त्र का वैशिष्ट्य है। इसमें एक ऐसी भी परीक्षा का विधान किया गया है जो अभी पाश्चात्य राजनीति में प्रचलित नहीं है। उस परीक्षा में उत्तीर्ण व्यक्ति शासनसभा के पद के लिए सोलह आने खरा माना जायगा। अंकुशवाली इसी परीक्षा की बात कामन्दक ने "स्वजनेभ्यो विजानीयात्" वाक्य में कही है जिस पर यहाँ विचार करना है।

निर्वाचन में विद्वानों का और जनता का बहुमत जानने के समान ही उम्मीदवार के सजातीयों का भी बहुमत स्वतंत्ररूप से जानना अत्यन्त जरूरी है। सजातीयों का मत जानने के फलस्वरूप उम्मीदवार के कुल, स्थान और नियंत्रणप्रियता इन तीन गुणों की परीक्षा हो जायगी।

कुल के संबंध में बात यों है कि विवाहसंस्कार सजातीयों को साथ लेकर किया जाता है। कारण, वे ही वरपक्ष और कन्यापक्ष का मेल बैठाते हैं। सजातीय गण ही कुल की शुद्धता की बात जानते हैं। पर, आज इस बात को उपेक्षा की जाती है। इसका जो बुरा परिणाम सामने आ रहा है वह एक गंभीर विचारणीय विषय है। उम्मीदवार या मंत्री के कुलीन न होने का फल यह होता है कि वह स्वभावत सत्त्व और शीलादि गुणों के अनुरूप कार्य नहीं कर पाता। कोरी शिक्षा की ही मात्रा उसमें उन अभावों की पूर्ति नहीं कर पाती। केवल कुलीन व्यक्ति ही घनघोर विपत्तियों के मौकों पर अविचलित रूप से उत्साह के साथ अपने कर्तव्यों का पालन कर सकता है। कामन्दक का भी यही कहना है--

"समुत्पन्नेषु कृच्छ्रेषु दारुणेष्वप्यसंशयम्।
दर्शयेत्स्वच्छहृदयः कुलीनश्चतुरस्रताम्।"

(४ सर्ग)

(अर्थात्, दारुण संकट उत्पन्न होने पर कुलीन व्यक्ति अपनी सरलता और स्वच्छ हृदयता का परिचय देता ही है।)

"सत्कुलमित्यस्य प्रयोजनमाह समुत्पन्नेष्वित्यादि" ऐसी अवतरणिका जयमंगला में भी सत्कुल के प्रयोजन के बारे में दी है। आयुर्वेदशास्त्र के आधार पर नियमों के पालन द्वारा उत्तम संस्कारोंवाले रज-वीर्य के योग से विनीत और नीति कुशल सन्तान की उत्पत्ति निश्चित ही है। ऐसी सन्तान थोड़े ही समय में नीति कुशल बनकर यथासमय राजकाज में त्वरित प्रगति करेगी ही। महाकवि कालिदास ने भी कुलीनता का चित्रण रघुवंश में निम्नांकित रूप में किया है—

"युवा युगव्यायतबाहुरंसलः, कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः।
वपुःप्रकर्षादजयद्गुरुं रघु, स्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥"

(अर्थात् पिता दिलीप से भी बढ़कर युवावस्था में रघु की भुजा, वक्ष और कन्धे पुष्ट थे पर कुल परंपरागत विनय के भाव से ही यह प्रकट हो पाता था कि यह पिता है और यह पुत्र है।)

संकट के समय कुलीनता का उपयोग कैसा होता है यह कर्ण और अर्जुन के बीच युद्ध का प्रसंग उत्पन्न होने की घटना से प्रकट है। बाणों की झड़ी बाँधकर क्रुद्ध कर्ण समरांगण में अनेक बार अर्जुन के सामने आता था। पर, जब अर्जुन उसके बाणों का प्रतिकार कर अपनी ओर से प्रहार आरंभ करते तो उसे सहन कर पाने में असमर्थ हो कर्ण को हर बार भागना ही पड़ जाता था। इस प्रकार, पीठ दिखाने पर भी, उस कर्ण को लज्जा या अपमान की अनुभूति नहीं होती थी। कारण, वह स्वयं को सूतपुत्र समझता था। इसके विपरीत, अत्यन्त घायल होने पर भी अर्जुन युद्ध में पीठ दिखाना क्षत्रिय कुल की मर्यादा के विरुद्ध, अनुचित समझ, रण में दृढ़ता से डटे रहे और विजयश्री प्राप्त करके ही लौटे। कुलीनता का यही प्रयोजन है। इसी दृष्टि से राजा भोज भी निम्नलिखित शब्दों में कुलीनता की प्रशंसा करते हैं—

"सत्त्वात्मनाममलधर्मविशेषजन्मा, जन्मान्तरानुभववासनयाऽवतीर्णः।
सर्वात्मसम्पदुदयातिशयैकहेतुर्जागर्ति कोपि हृदि मानमयो विकारः॥"

(अर्थात्, विशेष निर्मल धर्म द्वारा ही संभव होनेवाला और जन्मान्तरों की अनुभव-वासनाओं द्वारा उद्बुद्ध कर्तव्यमूलक स्वाभिमान, जो सभी प्रकार की संपत्तियों के उदय का एकमात्र हेतु है, किसी बड़े पुण्यात्मा के ही हृदय में जागरित हो पाता है।)

आज भी वैज्ञानिक लोग जब उत्तम कोटि के पशु, फल, अन्न आदि की उत्पत्ति के लिए उत्तम जाति के बीज के संरक्षण का यत्न कर रहे हैं, वैसे समय राष्ट्र का हित जिन पर निर्भर करता है ऐसे सन्तान रत्नों की उत्पत्ति के निमित्त तो नीतिज्ञजन कुलीनता आदि के बारे में ध्यान देंगे ही, इस पर इससे अधिक और क्या कहा जाय?

कुछ लोग ऐसी आपत्ति कर सकते हैं कि कुलीनता में जहाँ लाभ है, वहाँ हानियाँ भी उससे कम नहीं। उदाहरणार्थ, भारतीय राजनीति के अनुसार शासनसभा की उम्मीदवारी या मंत्रिपदों के लिए जब कुलीनता का ही अड़ंगा बना रहेगा तो अन्य लोग वैसे पद कभी न पा सकेंगे। इससे भारतीय राजनीति पर यह दोष आता है कि वह आर्थिक वैषम्य पैदा करनेवाली है।

ऐसी आपत्ति करने में वस्तुतः भारतीय राजनीति संबंधी अज्ञान ही कारण कहा जा सकता है। आपत्तिकर्ता को समझना चाहिये कि वह भी कुलीनों के सिवा जिन अन्य लोगों को शासनसभा का उम्मीदवार या मंत्री आदि बनाना चाहता है उन्हें वह किसी गुण के आधार पर बनायेगा अथवा गुणहीनों की ही टोली वहाँ जमा कर देना उसे अभीष्ट होगा? कहना होगा कि प्रवेश तो गुणों के आधार पर ही होना चाहिये। गुणहीन पुरुष के लिए तो परम प्रेमस्वरूपा माता तक भी खिन्न और अन्यमनस्क हो बैठती है। कहा भी है—

"अलसस्याल्पतोषस्य, निर्विद्यस्याकृतात्मनः।
प्रदानकाले भवति, मातापि हि पराङ्मुखी॥"

(अर्थात्, आलसी, मर्यादाहीन, मूर्ख और अजितेन्द्रिय सन्तान के प्रति माता भी कुछ देने के अवसर पर विमुख हो जाती है।) ऐसे लोगों को यदि अन्य अनेक द्वार रहते एक शासनसभा से ही वंचित रखा जाय तो यह कोई दोष नहीं वरन् राष्ट्रहित का कारण ही होगा।

अब रही गुणवानों की बात, इनमें भी उत्तम, मध्यम और अधम ऐसी तीन श्रेणियाँ होनी अनिवार्य हैं। इसे कौन नीतिज्ञ स्वीकार न करेगा कि जो उत्तम श्रेणी में अधिक गुणवान हो उसे ही शासनसभा के लिए प्रथम अवसर दिया जाय? ऐसे व्यक्ति में कुलीनता का भी यदि एक विशेष गुण प्राप्त हो तो उसे सर्वोपरि स्थान देने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है?

यहाँ ध्यान में रखने की बात यही है कि उम्मीदवार के निर्वाचन में मुख्य बात कुलीनता ही नहीं है। उस पद के उपयुक्त कुलीन होने पर भी यदि उस व्यक्ति ने आवश्यक गुणों का संग्रह नहीं किया अथवा संगति दोष आदि से उसमें दुर्गुण आ गये तो उपर्युक्त कसौटी में उसका विफल ठहरना अनिवार्य ही है। शासनसभा में प्रवेश के लिए कोरी कुलीनता कोई सहायक न होगी। गुणसम्पन्न उपयुक्त कुलीन व्यक्ति न मिलने की दशा में अन्य कुलीन व्यक्तियों की भी परीक्षा कर, उत्तीर्ण होने पर, शासनसभा की उम्मीदवारी और मंत्रिपद देने की व्यवस्था भारतीय अर्थशास्त्र में प्राप्त है। कामन्दक ने कहा भी है—

"गुणैरुदारैः संयुक्तान् प्रोन्नयेन्मध्यमाधमान् ।
महत्तां प्राप्नुवन्तस्ते वर्धयन्ति नरेश्वरम् ॥"

(नीतिसार ५, ६)

(अर्थात्, उदार गुणों से सम्पन्न मध्यम अधम को भी ऊँचे स्थान देने चाहिये। ऊँचे पदों पर बैठकर वे भी नरेश अथवा राष्ट्र का हित कर ही सकते हैं ।)

मंत्रिपदों पर आरूढ़ किये जाने पर, ऐसे लोगों को भी वेतन वही देना चाहिये जो उस पद के उपयुक्त कुलीन उत्तम गुणशील को प्राप्य हो। भारतीय राजनीतिशास्त्र के मतानुसार, विभिन्न जातियों से संबद्ध, विभिन्न विभागों के लिए, उन्हीं उन्हीं जातियों से निर्वाचित, शासनसभा के सम्पूर्ण सदस्यों एवं मंत्रियों को अपने श्रेणी में अधिकार और वेतन समान भी मिलना चाहिये। इसमें ब्राह्मण या अन्त्यज के भेद से किसी भी प्रकार अधिकार या अर्थ का वैषम्य न होना चाहिये। इस व्यवस्था से सिद्ध है कि भारतीय राजनीति में आर्थिक वैषम्य लानेवाली कोई बात नहीं है। सारांश यह कि भारतीय राजनीति के अनुसार, शासन के भिन्न-भिन्न कार्यों में भिन्न-भिन्न गुणशीलों का योग्य आदर बतलाया गया है और सभी के लिए अपनी श्रेणी में अधिकार, आदर और अर्थप्राप्ति भी समान ही कही गयी है। गुणवान कुलीन न मिलने की दशा में दूसरों को भी शासनसभा में प्रवेश करने का अधिकार माना गया है। इसलिए भारतीय राजनीति पर किसी प्रकार का आक्षेप लागू होने की कोई गुंजाइश ही नहीं।

शासनसभा के सभी सदस्यों और मंत्रियों की अपनी श्रेणी में अर्थ की समानता का विधान बतलाते हुए भी भारतीय राजनीति ने एक निर्बन्ध रखा है। वह निर्बन्ध यही है कि विभिन्न विभागों के लिए विभिन्न कुलों से आये मंत्रियों के खान-पान, विवाह आदि कार्यों में उनकी परंपरागत मर्यादा में बाधा नहीं डालनी चाहिये। उनके कुल की शुद्धता कायम रहने से गुणशील सन्तति का लाभ राष्ट्र को बराबर बना रहेगा। इस निर्बन्ध के बारे में कामन्दक का भी कथन है कि "उत्तमाभिजनोपेतान्न नीचैः सह वर्धयेत्" इस वाक्य की टीका में कहा गया है कि "उत्तमान् अभिजन युक्तान् नीचैः सह न वर्धयेत् तत्तुल्यमानान्न

कुर्यादित्यर्थः" उत्तमजन को नीचों के साथ में रखकर खान-पान विवाहादि प्रसंगों में दोनों को परस्पर ग्रथित नहीं करना चाहिये ।

प्रसंगवशात्, यहाँ यह स्पष्ट बतला देना आवश्यक है कि आर्थिक समता के साथ-साथ सभी के लिए काम की भी समता बाँध पाना शासन के लिए त्रिकाल में असंभव है। अन्यथा, ऐसी समता लाने के प्रयास में सुन्द-उपसुन्द सी लीला खड़ी हो जायगी। महाभारत की यह कथा विख्यात है कि सुन्द-उपसुन्द दोनों भाइयों ने आपस में निर्णय कर लिया था कि किसी भी दशा में हम दोनों न लड़ेंगे । दूसरों के द्वारा संकट की जो आशंका थी उसके लिए तपस्या कर ब्रह्मदेव से यह वर प्राप्त कर लिया कि हमें अन्य कोई मार न पाये । इस प्रकार, त्रिलोक में सबसे अवध्य होकर हजारों वर्ष तक बने रहे । पर, तिलोत्तमा नामक एक सुन्दरी को देख वे कामातुर हो आपस में ही लड़कर कट मरे ।

इस प्रकार, कुलीनता की परीक्षा के अनन्तर अब स्थान की परीक्षा का प्रकरण देखें। मन्त्री या उम्मीदवार पहले कहाँ का रहने वाला था और अब कहाँ रहता है, यह बातें सजातीयों से ही ज्ञात हो सकेंगी। इस संबंध की जानकारी से यह लाभ होगा कि उम्मीदवार को निर्वाचन क्षेत्र की चाल-ढाल, रीतिरिवाज, परम्परागत व्यवहार आदि की जानकारी है या नहीं, इसका बोध हो सकेगा। शासन का यह कर्तव्य ही है कि वह प्रदेशों के आचार, व्यवहार, परम्परा को संरक्षण प्रदान करे। वास्तविक जनतन्त्र का रूप यही है। ऐसे जनतन्त्र में ही किसी को शासन द्वारा दबाने का प्रसंग नहीं रहता ।

स्वजनों के माध्यम से की जा सकने वाली परीक्षा के अब तीसरे गुण अंकुश (अवग्रह) पर विचार करें। इस परीक्षा का मतलब ही यह है कि उम्मीदवार या मंत्री अंकुश के बाहर न जा पायें । यह विश्वास नरेश या जनता को प्राप्त हो ही जाना चाहिये कि उम्मीदवार किसी भी दशा में शीलादिक मूल संस्कारों से विचलित न होगा। इसका स्पष्ट विवेचन यों है कि मनुष्य गुणों के बल पर कितने भी ऊँचे से ऊँचे अधिकार पर आरूढ़ क्यों न हो जाय, पर उसे खान-पान विवाहादि व्यवहार अपनी जाति के अन्तर्गत ही रखना होगा। जातीयता संबंधी इस बंधन को

वह किसी भी दशा में तोड़ न सकेगा। मर्यादा उल्लंघन पर जाति से बहिष्कृत किये जाने का अंकुश महत्वपूर्ण है। नियंत्रण की दृष्टि से यह अपने ढंग की निराली नकेल है। सारांश यह कि जातीय मर्यादा का पालन नियंत्रण की दृष्टि से आवश्यक है। जाति मर्यादा पालन संबंधी गुण पर ही जातीय जन उम्मीदवार को बहुमत प्रदान करेंगे। इस प्रकार, स्पष्ट होगा कि उम्मीदवार जाति के अंकुश में रहने वाला है। किसी भी उम्मीदवार को मत देने से पूर्व यह बात जाति को पहले ही समझ लेनी आवश्यक है कि वह व्यक्ति जाति-मर्यादा का पालन करनेवाला है या नहीं। अन्यथा, आँख मूंदकर मत देने का फल यह होगा कि उम्मीदवार द्वारा होने वाले अपराध के लिए जाति को दण्डभागी बनना पड़ेगा। यही भारतीय राजनीतिशास्त्र ने जाति के बारे में विशेष व्यवस्था रखी है। शासन कार्य के लिए भारतीय राजनीति में मुख्यतः १८ विभाग रखे गये हैं और उन विभागों के लिए विभिन्न जाति के मंत्री निर्वाचित होकर आते हैं। उदाहरण के लिए, सुवर्णाध्यक्ष का निर्वाचन स्वर्णकारों के बीच से होना चाहिये। जिनको आभूषण निर्माण की आवश्यकता हो, उसके विभाग द्वारा अपना कार्य संपन्न करा सकते हैं। इसमें यदि सोने का कोई गोलमाल होने की बात अदालत से सिद्ध हो जाय तो इसके लिए सुवर्णाध्यक्ष ही उत्तरदायी होगा और गोलमाल का दण्ड उसके वेतन से वसूल किया जायगा। वेतन से ही अपेक्षित दण्ड की पूर्ति यदि संभव न हुई तो शेष रकम उसको निर्वाचित करनेवाली संपूर्ण स्वर्णकार जाति से वसूल की जायगी।

इस उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट की गयी है कि जातीय मतदाता भी मतदान में पूरी तरह सतर्क रहें और ऐसे किसी भी व्यक्ति का चुनाव संभव न हो जो उच्छृंखल बन सके। इसका परिणाम यह होगा कि मतदान पूरी तरह ठोंक बजाकर ही करने की भावना जनता में भी आयेगी। दूसरी ओर, उम्मीदवार भी पूर्णतः जाति मर्यादा का पालन कर स्थायी रूप से जन-विश्वासभाजन बने रहने के लिए सदा प्रयत्नशील रहेगा। जातीय आधार पर कहे गये निर्वाचन का यह एक बड़ा सुन्दर लाभ है।

इस प्रकार, विद्वन्मत, जातीयमत, लोकमत, प्रत्यक्ष और तर्क इन पाँच परीक्षाओं की कसौटी में निखरा उम्मीदवार यदि शासन सभा में पहुँच शासन के लिए

शतप्रतिशत सहायक सिद्ध हो तो यह भी निश्चित है कि गोरूपा पृथ्वी अपने वत्सरूप जनता के लिए स्वयं ही दिल खोलकर दुग्ध रूप समस्त विभूतियों की धारा बहाये बिना न रहेगी और हमारी क्षुधा-तृष्णा का निवारण करेगी। ऐसी सुन्दर निर्दोष व्यवस्था भारतीय राजनीति को छोड़ अन्यत्र कहीं नहीं मिलती।

जनता पर शासन लागू करना, अपराध के अनुसार आवश्यक दण्ड की व्यवस्था करते हुए भी लोकप्रियता भाजन बने रहना और अपने प्रति जनता में देवत्व वुद्धि सम्पादन करना, यह सब बड़ा कठिन कार्य है। कारण, दण्ड-व्यवस्था में अपराधी की सम्पत्ति का हरण करने अथवा फांसी आदि दिलाने में जनता के भीतर दोष बढ़ने की पूर्ण संभावना बनती है, दण्ड न देने पर शासन ही अन्यथासिद्ध ठहरता है और शासन का भय उठ जाने से मात्स्य न्याय फैलने की नौबत आ जाती है। कामन्दक का भी कहना है—

"परस्परामिषतया जगतो भिन्नवर्त्मनः।
दण्डाभावे परिध्वंसी मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते॥"

(नीति० २)

(अर्थात्, एक दूसरे का अंश झपटने के फेर में धर्म-कर्महीन लोग दण्ड के अभाव में विनाशकारी मात्स्य न्याय के रास्ते उतर पड़ते हैं।) इसीलिए दण्ड आवश्यक है। इस भारतीय राजनीति के अन्तर्गत जैसी व्यवस्था कही है उसके अनुसार, दण्ड देने के प्रसंग में, शासन अन्य जातीय सभी मंत्रियों और उनके अनुगामी वर्ग का समर्थन अपने हाथ में रख, किसी एक जातीय मंत्री अथवा उसके अपराध में उसके अनुगामी वर्ग को सहज दण्डित कर सकता है। ऐसे दण्ड का आतंक अन्य मंत्रियों एवं उनके अनुगामी जातीय वर्गों को भी ठीक ढंग से नीति पर चलने की शिक्षा देने वाला सिद्ध होगा।

इसके विपरीत, कोरे लोकमत के ही आधार पर निर्वाचित किसी मंत्री के दोष पर यदि उसके अनुगामी पक्ष के संपूर्ण मतदाताओं को कहीं दंडित करने का प्रसंग आ जाय तो शासन स्पष्ट ही जनता का कोपभाजन बनकर टिक न सकेगा। यही बात कामन्दक ने अपने सूत्र में कही है—

'उद्वेजयति तीक्ष्णेन मृदुना परिभूयते ।
दण्डेन नृपतिस्तस्माद्युक्तदण्डः प्रशस्यते ॥'

'युक्त दंड' की ही व्यवस्था प्रशस्त होगी । यहाँ 'युक्त दंड' का तात्पर्य सुनियोजित दंड से है जो अनावश्यक कठोर होकर जनता को उत्तेजित करने वाला अथवा मृदु होकर शासन को ही पंगु ठहराने वाला भी न हो ।

वर्तमान पाश्चात्य राजनीति में मंत्री यदि निरंकुश बन बैठे तो उसके अपराध में शासन उसके अनुगामी मतदाता क्षेत्र को दंड देने का साहस नहीं कर पाता । निर्वाचन में जातिमर्यादा का भी बंधन न रहने के कारण जनता के हाथ में जातीय नियमन जैसा कोई अंकुश नहीं है, जिससे वह मंत्री का निग्रह कर सके । इसका परिणाम यह हो रहा है कि मंत्री पूर्णतः निर्भय हो, प्राप्त अधिकार और पद का दुरुपयोग करते हुए, साधारण सौजन्य भी भूल जाते हैं । इस त्रुटि के निवारण का कोई भी रास्ता जातिमर्यादा का उच्छेद करनेवाली वर्तमान राजनीति के पास नहीं है ।

इतनी बातों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमान इन तीनों ही के आधार पर भारतीय राजनीति ने निर्वाचन की कैसी निर्दोष पद्धति निर्धारित की है ।

अब यहाँ इस बात का विचार करना है कि शासन को राष्ट्र के भीतर गुणशील व्यक्ति किस प्रकार सहज ही मिलते रह सकते हैं और किस प्रकार ऐसे गुणशीलों की पीढ़ी उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायगी । यदि सामान्य रूप से देखें तो आज सभी नीतिज्ञ इसी दिशा में अपनी बुद्धि लगा रहे हैं । पर, अभी तक अभीष्ट परिणाम संभव करने वाला सुलभ मार्ग सामने नहीं आया है ।

इस बारे में भारतीय राजनीति द्वारा निर्दिष्ट उपाय कितना सुसंगत एवं परिपूर्ण है, इसे आगे देखें । यहाँ स्वतः प्रेरणापूर्वक ही गुणशीलों की वृद्धि का मार्ग निर्देशित है । इतना ही नहीं, विभिन्न प्रकार के संस्कारों की कहीं खिचड़ी न खड़ी हो जाय, इसके बचाव के लिए भी शासन को मार्ग बतलाया गया है । इन्हीं बातों पर आगे की पंक्तियों में यहाँ प्रकाश डाला जा रहा है ।

शासन का मुख्य कार्य जहाँ जनता में धर्म, अर्थ, काम की अभिवृद्धि कहा है, वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि गुणशील मंत्रियों के सहयोग से ही राष्ट्र में उन तीन लक्ष्यों की संभावना होती है। इसके लिए देश के भीतर अपेक्षित परिमाण में ज्ञान, सुरक्षा, व्यापार और शिल्पादि कला की पूंजी बाँधनी ही होगी। ऐसे सब कार्यों के लिए शासन ही वेतनादि की व्यवस्था करता बैठे, यह संभव नहीं है। कदाचित वैसी व्यवस्था करने में वह समर्थ भी हो, तब भी वेतन के आधार पर देश-कार्य कराने का विचार ही संगत नहीं। किसी कार्य में मनुष्य जबतक अपने को आन्तरिक उत्साह के साथ प्राणपण से नहीं लगाता तबतक उसमें गुणशीलता का विकास आ सकता नहीं। वेतन के आधार पर काम करने वाले का ध्येय 'परिश्रम' न होकर 'वेतन' ही रहता है। रुपया कमाने का चस्का लग जाने पर मनुष्य वैसा ही कार्य करता है जिससे अधिक से अधिक द्रव्य हाथ लगे। आज एक जगह काम करता मनुष्य अधिक वेतन मिलने की संभावना पर तुरत अन्यत्र चला जाता है।

इसके विपरीत, भारतीय नीतिज्ञों का इतिहास बतलाता है कि जो जितनी अधिकमात्रा में गुण वैशिष्ट्य दिखलाये उसे उसी परिमाण में शासन द्वारा पुरस्कृत किया जाय। यह पुरस्कार वेतन के नाम से न होकर 'सम्मान' के रूप में उसी परिमाण में दिया जाना चाहिये जितना शासन की दृष्टि में उसपर व्यय परिकल्पित हो। भारवि का इस संबंध में कथन है कि **'प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी, गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया'** अर्थात् धर्मराज युधिष्ठिर के मुकाबले जनता का आकर्षण अपनी ओर करने के लिए दुर्योधन ने भी अपने शासन में 'विशेष गुणों के बगैर विशेष सत्कार न करने की नीति चला रखी थी। मानव समाज में ऐसे ही दो वर्ग देखने में आते हैं, जिनमें एक अर्थ प्राप्ति को ध्येय मान कर गुणों के उत्कर्ष में लगता है और दूसरा वह जो देश की आवश्यकता को ध्यान में लेकर अपेक्षित कर्त्तव्य और व्यापार में संलग्न होता है। भारतीय नीति आरंभ से ही कर्त्तव्य पर जोर देती है और उसका कहना है कि कर्त्तव्य बुद्धि से ही संभव हुए गुणों का उत्कर्ष देखकर शासन उसका समादर करे। इस नीति के मुकाबले वेतन को ही लक्ष्य बनाने वाली स्थिति कहाँ तक समीचीन है, इस पर पाठक स्वयं विचार करें। इस व्यवस्था के प्रसार के लिए शासन को अन्य कुछ नहीं, केवल इतना ही कर्त्तव्य प्राप्त होता है कि वह

शासन के अन्तर्गत समस्त कार्यनियोजनों में इस व्यवस्था के अतिक्रमणकारियों को दंड देने के लिए सतर्क रहे। यही बात कामन्दक ने भी 'सर्वस्यास्य यथान्यायं भूपतिः सम्प्रवर्तकः' इन शब्दों में कही है।

ऊपर बतलायी कर्त्तव्य व्यवस्था यदि वैदिक आदेश के रूप में ग्रहण की जाय तो उसे 'धर्म' का रूप प्राप्त हो जाता है। वही यदि लोककल्याण की भावना से सेवा के रूप में अपनायी जाय तो वह धर्म 'नीति' का स्वरूप ग्रहण कर लेगा। यह मन्तव्य समझा भी आये हैं। धर्म और नीति का यह गठबन्धन भी भगवान् के अवतार के विविध प्रयोजन में एक है। कारण, इस गठबन्धन का उच्छेद ही देश के पराभव का मूल बनता है। यह प्रसंग संत ज्ञानेश्वर द्वारा 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' आदि श्लोकों की ज्ञानेश्वरी में की गयी निम्नलिखित टीका देखने से अधिक स्पष्ट हो जायगा। 'अधर्माची अवधि तोड़ी। दोषां ची लिहली फाड़ी। सज्जना करवीं गुढ़ी सुखांची उभवी। दैत्याची कुळे नाशीं। साधूँ चा मान गिवसी। धर्माशीं नीतिशीं शेज भरीं।'

इसमें 'धर्माशीं नीतिशीं शेज भरीं' इस पद्य के अन्तर्गत धर्म और नीति के गठबन्धन की बात आयी है। 'नीति' 'लक्ष्मी सहस्र नामावली' के अनुसार लक्ष्मी का नाम है और 'धर्मो नारायणः स्वयं'—यह प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार, यहाँ 'नीति' लक्ष्मी और 'धर्म' नारायण इन दोनों को एक शैया पर प्रतिष्ठित करने की बात कही है। शैया का तात्पर्य वैदिक विधानों से है और इस संपूर्ण रूप का मतलब यह है कि त्रिविध प्रमाणों से पहले स्थिर कर लें कि वैदिक विधि द्वारा लौकिक एवं पारलौकिक हितों का साधन कैसे किया जा सकेगा और फिर लोकसेवा की दृष्टि से कर्त्तव्यबुद्धिपूर्वक वैसा ही आचरण करें।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि शासन ऐसे व्यक्तियों के संग्रह और समादर का लक्ष्य बनाये, जिन्होंने कर्त्तव्य बुद्धि से ज्ञान, सुरक्षा, व्यापार और शिल्पादि कलाओं में गुणशीलता का विकास किया हो। शासन द्वारा ऐसे लोगों का समादर होता देख अन्य भी लोगों में वैसी गुणशीलता के लिए प्रेरणा प्राप्त होगी। ऐसे गुणशीलों के संग्रह का सुगम मार्ग भारतीय राजनीति ने बतलाया है।

पाश्चात्य राजनीति भी यह मानती है कि ज्ञान, सुरक्षा, व्यापार और शिल्पादि विशिष्ट कार्यों के लिए गुणशीलों का संग्रह जरूरी है। ऐसी एक-एक श्रेणी में उच्च गुणशीलता के संपादनार्थ मनोयोगपूर्वक संलग्न व्यक्ति के लिए ऐसा अवसर शेष नहीं हो सकता कि वह दूसरी श्रेणियों का भी कार्य कर सके। इसलिए उन चारों का श्रेणी विभाग ही उत्तम मार्ग माना जायगा। ऐसी प्रत्येक श्रेणी में यदि जन्मना वैसे ही संस्कार आ रहे हों तो शासन को चाहिये कि वह इसमें बाधा डालने वाला कोई भी कार्य न होने दे। क्योंकि, भारवि का कहना है कि 'प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया।' जो बात किसी के स्वभाव सिद्ध प्रकृति में आ जायगी उसमें वह किसी के मुकाबिले कभी दबेगा नहीं। 'सेना के गुण निरूपण के क्रम में कामन्दक का भी कहना है कि 'अद्वैध्यः क्षत्रियप्रायो दण्डो दण्डविदां मतः' सैनिक वही हो जो क्षत्रिय प्राय हो। 'क्षत्रियप्राय' शब्द का मतलब टीका में यों समझाया है कि 'क्षत्रियाणां युद्धयोग्यत्वादितरेषां तत्सम्पर्कादुत्साहो भवति' 'क्षत्रियों की युद्ध संबंधी योग्यता के कारण उनके सम्पर्कवश दूसरों में भी तदर्थ उत्साह होगा। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि घोर संकट की अवस्था में केवल प्रकृति सिद्ध संस्कार वाले ही स्थिर रह सकते हैं। इन्हीं सारी बातों के विचार से भारतीय राजनीति माला में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का भी एक प्रकरणपुष्प पिरोया मिलता है।

इसी वर्ण व्यवस्था के फलस्वरूप वर्तमान कठिन काल में भी भारतीयों में उक्त संस्कारों का परिचय प्राप्य है। यदि भारत का पूर्वकालीन इतिहास देखा जाय तो उसमें राम और अर्जुन जैसे वीरों के ऐसे उद्‌गार मिलेंगे, जिनका मतलब है कि 'चाहे जो भी हो, हम लोकसेवा के लिए सर्वस्व त्याग करने को तैयार हैं और इसमें हमें लेश भी संकोच होने वाला नहीं।' 'आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा' यह राम की उक्ति प्रसिद्ध ही है। सेनापति पद पर आसीन परशुराम और महामंत्रिपद पर आसीन चाणक्य जैसे व्यक्ति अपने कार्यकाल में ज्ञान सेवा रूप अपना मुख्य कर्त्तव्य भूले नहीं। संपूर्ण अधिकार अपने ही हाथों में रहते भी परशुराम की जंगल की कुटिया कभी न छूटी। आधुनिक काल में, चन्द्रगुप्तसाम्राज्य के महामंत्री

चाणक्य का भी जीवन देखें। संपूर्ण नंदराज्य को वश में कर स्वयं उन्होंने नंद के गुणशील पुत्र चंद्रगुप्त को गद्दी पर बैठाया। नंद के महामंत्री श्री अमात्य राक्षस के भी प्रज्ञा, भक्ति और पराक्रम की पूर्ण परीक्षा कर लेने पर 'सर्वथा निर्लोभ भाव से, स्वयं उसे अपने पद पर अभिषिक्त किया और आप ज्ञान रूप राष्ट्रसेवा के लिए सर्वस्वत्यागी भाव में आजीवन अपनी कुटिया ही जगाते रहे। शेष जीवन विद्या की सुरक्षा में लगाया और अर्थशास्त्र जैसा विश्ववंदनीय अनमोल ग्रंथ दे, भ्रांति तिमिर से जगत के शाश्वत उद्धार के लिए, सच्चे अर्थों में नीति का दीपक जला गये। कुलीनता में परम्परा से सधे संस्कारों का ही यह सुफल है। अन्यथा, ऐसा कठोर त्याग और ऐसी कठोर परीक्षा अन्यत्र कहाँ संभव है?

अत्यन्त आधुनिक इतिहास समर्थ स्वामी रामदास का है, जिन्होंने शिवाजी के राजकीय गुणों की परीक्षा लेकर उनका राज्याभिषेक किया। बाद, लेश भी उनके राज्य में स्पृहा न रख, चाणक्य की ही तरह, विद्या सेवन में रत रहे। उनकी इसी तपस्या का प्रसाद दासबोध ग्रंथ के रूप में मानवता को प्रकाश दे रहा है।

परम्परागत कर्त्तव्य संस्कार से अनुप्राणित वैश्यवर्ग भी अनेक देशों में भ्रमण कर राष्ट्र के लिए आवश्यक वस्तुएं परिपूर्ण करता रहा है। पशु संरक्षण द्वारा उसने देश में दूध-दही की कीच-सी उत्पन्न कर दी थी। देश का सारा व्यापार उसके हाथ में रहते भी उसका लाभांश कभी शास्त्र-नियंत्रण के बाहर नहीं गया। संयमित लाभ द्वारा भी संचित धन का उसने सदा निस्वार्थ भाव से राष्ट्र के हितार्थ ही उपयोग किया, जिसमें महाराणा प्रतापकालीन भामाशाह आदि का नामोल्लेख ही पर्याप्त होगा।

इसी परम्परागत कर्त्तव्य संस्कार के बल पर आगे बढ़े शूद्रवर्ग ने भी शिल्प और कला के क्षेत्र में ऐसे चमत्कारों से भारतीय राष्ट्र को सजाया, जिनके अवशिष्ट चिन्हों को देख आज भी विश्व को दाँतों तले अंगुलियाँ दबानी पड़ जाती हैं। कठोरतम कृषि कार्य की तपस्या में भी लगकर, इतिहास साक्षी है कि उसने भारत को कभी परान्न मुखापेक्षी नहीं रखा।

इस संपूर्ण प्रसंग में सर्वोपरि उल्लेख्य बात यही है कि गहनतम त्याग, श्रम, कष्टसहिष्णुता आदि की चक्की में पड़कर भी, किसी भी श्रेणी के व्यक्ति को क्लेश

की अनुभूति न होकर, उलटे उत्साह, संतोष और प्रसन्नता का वातावरण छाया रहे और उस अतीतयुग को आज भी लोग, 'स्वर्णयुग' के नाम से स्मरण करते हैं। उस समय के नरेश इस बात पर पूरी निगाह रखते थे कि जन्मसिद्ध संस्कारों द्वारा संवर्धित होनेवाली गुणशीलता के मार्ग में बाधा रूप विलासितादि दुर्गुण न आने पायें। आज भी उपर्युक्त प्रकार का वातावरण इन्हीं आधारों पर उत्पन्न करना अशक्य नहीं है। ऐसा ठोस, सुगम और संगत निर्देशन पाश्चात्य राजनीति में अप्राप्य है। वहाँ तो राष्ट्रहित और लोकहित के उपर्युक्त मुख्य कार्यों के लिए जब जिसको जैसी इच्छा आये वैसा ही कर गुजरने की छूट है। ऐसी छूट के कारण ही, समय के अनुसार, उत्पन्न होनेवाले नये-नये संस्कार लोगों के पुराने परंपरागत संस्कारों को दबाते रहते हैं। समय के अनुसार आये जिस नवीन संस्कार को मनुष्य ग्रहण करता है, उसमें उसके समक्ष पुष्टि या बल का आधार तो होता नहीं। फलतः, वह कसौटी के मौकों पर ऐसे संस्कारों को ले-देकर विफल ठहरता एवं शम प्रधान उत्साह आदि गुणों से हीन सिद्ध होता है। अतएव, ऐसी लंगड़ी भूमिका के अन्तर्गत यदि पाश्चात्य नीति लोकशान्ति लाने की परिकल्पना करती हो तो वह त्रिकाल असम्भव ही है।

भारतीय जनता को पाश्चात्य राजनीति ने आज ऐसे ही गलत रास्ते पर डाल दिया है। स्वाभाविक रूप से मनुष्य में गुणशीलता बढ़ानेवाली जातिप्रधान उस वर्ण व्यवस्था की, जिसका भारतीय राजनीतिशास्त्र ने अचूक लोकहित के लिए विधान किया, जड़ ही काट देने के निमित्त सर्वथा अवांछनीय विलास आदि पूर्ण संस्कार खड़े किये जा रहे हैं। लोकहित और लोकसेवा की जो भावना परम्परया इन श्रेणियों में जग रही थी उसका खुला मूलोच्छेद हो रहा है। गाँवों में पहुँचकर देवता के रूप में पूजा पानेवाला अतिथि आज धक्के मारकर हटा दिया जाता है। चोरी की नीयत से मोरध्वज राजा के महल में घुसे डकैतों को राजा के हाथों साधु-महात्माओं जैसी पूजा पा स्वयं सन्त बन बैठने का दरवाजा ही बंद हो गया है। पतन के ऐसे गंभीर गड्ढे में गिरकर मनुष्य अपना श्रेणिगत स्वाभिमान मूल इस बुद्धिवाद के दल-दल में फँस रहा है कि 'वह ऊँचा क्यों और हम नीचे क्यों?' मानापमान की ऐसी कुशंकाओं को हृदय में स्थान देना न तो उत्कर्ष का ही मार्ग है और न भारतीय राजनीति की विधि से ही संगत है।

मान-सम्मान तो प्रत्येक व्यक्ति का होना ही चाहिये। पर, यह मान-सम्मान किस आधार पर होता है, कौन किसको मान देता है, यह बात समझ लेने पर भारतीय राजनीति का यथार्थ रूप हृदय में बैठ जायगा। वास्तव में, देखा जाय तो लोकसेवा और लोकहित की सच्ची भावना हृदय में रखने वाले व्यक्ति या श्रेणी के हृदय में मान-सम्मान की कल्पना छू तक नहीं जाती; यह बात सिद्धांत सिद्ध है। इस लोकसेवा और लोकहित कार्यों का सम्मान राष्ट्र स्वयं अग्रसर होकर करता है। ऐसे लोकसेवा और लोकहित कार्यों के शिक्षणार्थ ही भारतीय राजनीति ने विभिन्न आश्रमों का विधान किया है। इनमें शूद्र जाति तो स्वयं सर्वांगीण सेवा परायण ही होने के कारण उसके लिए कुछ कहने की विशेष आवश्यकता नहीं है। अब रही त्रिवर्णों की बात, उन्हें उपनयन संस्कार के साथ ही सर्वप्रथम सेवा का ही पाठ सौंपा जाता है। उन्हें ज्ञान की आरंभिक झलक भी गुरु द्वारा सेवा से ही प्राप्त करनी होती है। गुरु भी विद्यार्थी को पूरी तरह इस बात में परख कर ही विद्या देता है कि वह विनीत है अथवा नहीं। इस प्रकार, ब्रह्मचर्याश्रम में ही सेवा का जगाया गया संस्कार आगे चलकर राष्ट्र का हितसाधक बनता है। सेवा के उस शिक्षण काल में ही छात्र को यह बात पक्की तौर पर जँचा दी जाती है कि 'सच्चे सुख के मार्ग क्या हैं ?' ऐसा इसलिए किया जाता है, जिससे उसके जीवन में क्षुद्र स्वार्थी भाव कभी पास न फटक पायें और वह किन्हीं भी विषय-विकारों का शिकार न बन सके। आध्यात्मिकता का परिचय इसमें मूलरूप से सहायक बनता है और वही परिचय जीवन के अंतिम दिनों में मनुष्य को विरागी बना ईश्वर भक्ति के परम शान्तिमय परमानन्द में विभोर कर देता है। भारतीय राजनीति में संस्थापित शांति का यही लक्ष्य मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित करता रहा है।

चातुर्वर्ण्य के लोग यदि उपर्युक्त प्रकार राष्ट्र की सेवा करते हैं और राष्ट्र उनका सम्मान करता है तो इसपर किसी का सिर क्यों दुखता है ? राष्ट्रसेवी का राष्ट्र के द्वारा सम्मान मनोविज्ञान की दृष्टि से स्वाभाविक ही है। कारण, हार्दिक लगन से राष्ट्र सेवा कार्य में लगे व्यक्ति को राष्ट्र प्रसन्नतापूर्वक अपना विश्वासभाजन बनायेगा ही और मित्ररूप में उसका आदर भी करेगा। दास्य और सख्य का यही नियम ऊपर 'स्थिरसंधि' के प्रसंग में भी स्पष्ट किया जा चुका है।

इस नियम के आधार पर प्रत्येक श्रेणी द्वारा राष्ट्र की होनेवाली सेवा और बदले में राष्ट्र द्वारा उसे मिलनेवाले सम्मान का भी क्रम यहाँ देखें। वंशानुक्रम से गुणोत्कर्ष के साथ शूद्र वर्ग जो राष्ट्र की सेवा कर रहा है उसके लिए राष्ट्र ने भी आयके सम्पूर्ण मौलिक साधन शिल्प और कलाओं के क्षेत्र पुरस्कार रूप में एकतंत्र उसी के लिए निर्धारित कर दिये हैं। उनके यहाँ विवाह आदि का प्रसंग प्राप्त होने पर अन्य सभी वर्ग के लोगों के द्वारा सहायता पहुँचाने की भावना आज भी देखी जाती है। शूद्रों के प्रति राष्ट्र की इस सम्मान भावना को देखकर जो लोग वास्तव में कुढ़ते हैं, और उस कुढ़न की ओट में शूद्रों को उल्टा-सीधा समझाने का स्वांग भरते हैं, वे कहाँ तक उन सीधे-सादे शूद्रों के हितैषी ठहरेंगे, इसे विवेकी स्वयं समझें।

इसी प्रकार, देश-विदेशों की खाक छानकर राष्ट्र के लिए अपेक्षित संपूर्ण वस्तुओं के भण्डार का 'आदान-प्रदान साधन' यह वैश्यों की वंश परंपरा द्वारा साधित गुणोत्कर्ष की महान् देन है। उनकी राष्ट्र-सेवा यहीं तक नहीं, अन्न-क्षेत्र, मंदिर, धर्मशाला, तालाब, पाठशाला, चिकित्सालय आदि नानाविध देशोपयोगी कार्यों में भी व्यक्त है। उनकी इस सेवा के पुरस्कार में राष्ट्र ने उनके प्रति पितातुल्य मान की सद्भावना रखी है। धर्मशास्त्र भी इसका यह कहकर अनुमोदन करता है कि

"अन्नदाता भयत्राता यश्च विद्यां प्रयच्छति।
जनिता चोपनेता च पञ्चैते पितरः स्मृताः" ॥

राष्ट्र के शील के अनुरूप वैश्यों के इस सम्मान को देखकर यदि किसी को अन्तर्दाह हो, और वह किन्हीं शाब्दिक स्वांगों से उनके विरुद्ध फूट डालनेवाली बातें फैलाये तो इसे पाश्चात्य राजनीति के षडयंत्र के सिवा और क्या कहा जायगा ?

क्षत्रियवर्ग भी इसी प्रकार अपने आनुवंशिक गुणोत्कर्ष द्वारा अपनी जान तक को खतरे में डालकर राष्ट्र-रक्षा के लिए चौबीस घंटे सन्नद्ध रहता है। उस एक के जागरण से संपूर्ण राष्ट्र को सुख की नींद लेने का अवसर प्राप्त होता है। उसकी ऐसी अमूल्य सेवा के पुरस्कार में राष्ट्र यदि उसे अपना संपूर्ण कोष समर्पित करता

और उसे सिंहासन पर बैठाकर आनन्द अनुभव करता है तो इसमें किसी को वायुप्रकोप हो, और वह छद्‌म से विपरीत प्रचार करता घूमे, इसे सीधे शब्दों में राष्ट्रद्रोह के सिवा और क्या कहा जायगा ?

अब ब्राह्मणवर्ग की सेवा पर भी एक दृष्टि डालें। अनेक कठिनाइयां झेलकर भी सात्विकता को हृदयों में बसाये, विद्या के गहन सागर में तह तक गोते मार, वह उपयोगी ज्ञानरत्न जनता को समर्पित करता है। इस प्रकार, ज्ञान-दान द्वारा राष्ट्र की आँखें खोलते रहने की अपनी अमूल्य सेवा वह अन्य समस्त अर्थकरी वृत्तियों से निर्लिप्त रह अक्षुण्ण रूप से चलाता है। राष्ट्र उसकी इस सेवा के पुरस्कार में उसके प्रति केवल विनम्रतापूर्ण सम्मान प्रदान करता और हाथ जोड़कर उनके उपदेश शिरोधार्य करता है। "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वा प्रपन्नम्" जैसे गीता के उद्‌गार उसी भाव का परिचय देते हैं"।

उपर्युक्त प्रकार राष्ट्र द्वारा अपने सेवकों का किया जानेवाला सम्मान सेवकों की कोई अपनी माँग के कारण तो होता नहीं, फिर, इस पर "वह बड़ा क्यों और हम छोटे क्यों" जैसी दुर्भावनाओं का प्रचार अपने ही को उपहासास्पद बनाना ठहरता है। जो श्रेणी राष्ट्र की सेवा जिस कोटि की करती है, उसको सम्मान भी उस कोटि का मिलता है। उदाहरणार्थ, बल के लिए मनुष्य भोजन करता है। संपूर्ण आहार पहले उदर में जाकर स्थित होता है। वहाँ से सत्त्वशील इन्द्रियाँ अपने कार्यानुरूप उस आहार का सत्त्व भाग आकर्षित कर लेती हैं। इसी प्रकार अन्य अवयव भी अपने अपने कार्य के अनुरूप पोषण प्राप्त कर लेते हैं। इसमें किसी इन्द्रिय के कार्य को अपराध नहीं ठहराया जा सकता या न ऐसे कार्य में किसी इन्द्रिय का महत्त्व घटता बढ़ता है। ठीक यही स्थिति राष्ट्र की है। राष्ट्र भी एक शरीर है और सभी श्रेणियां उसके अवयव हैं। इनमें से प्रत्येक का अलग अलग प्रयोजन हैं और अलग अलग महत्व है। पैर का सिर के कर्त्तव्य भाग पर दावा अथवा सिर का पैर के कर्त्तव्य भाग पर झुकाव जैसे कौड़ी काम का नहीं, वैसे ही भारतीय राजनीतिक के गुणोत्कर्ष विधायक उक्त श्रेणियों के संबंध में कोई भी आपत्ति विक्षेप ही कही जायगी।

निर्दोष चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पर आज जो चतुर्दिक से आपत्तियों की झड़ी बाँधी जाती है, उसका मूल कारण हम लोगों की अपनी ही अव्यवस्था है। उपर्युक्त अत्यन्त समीचीन सेवा-भावना का परित्याग कर आज जिसके मन में जो आता वह वही कार्य करने लग गया है। पर, ऐसे नये नये अपनाये जानेवाले कार्यों का संस्कार तो किसी में है नहीं। इसलिए अपनाये कार्य में वे सफल होते नहीं और संकट की दशा में घबराकर जिम्मेदारी का ठीकरा दूसरे के मत्थे फोड़ने की वृत्ति से काम लेने लगते हैं। राष्ट्र की सेवा तो ऐसी नयी नयी साधनाओं से कुछ बन पड़ी नहीं, फिर मान की बुभुक्षा ज्वाला दूने रूप में क्यों न भड़के ? इसीलिए आपत्तियों की झड़ी बँधी देखने में आती है। पर, इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि गुणोत्कर्ष-विधायक चातुर्वर्ण्य व्यवस्था निरूपक भारतीय राजनीति सर्वथा निर्दोष है।

भारतीय राजनीति शास्त्र पर आधारित यह डंके की चोट घोषणा समझ लेने की है कि यदि भारतीय राजनीति के अनुसार शासन व्यवस्था न चलायी गयी और लोगों ने परम्परागत गुणोत्कर्ष के साधन के मार्ग को अपना कर्त्तव्य न समझा तो राष्ट्र में न कोई नियम रह जायगा और न कोई व्यवस्था ही सुचारु रूप से चल पायेगी। भारतीय राजनीति से पराङ्मुख पाश्चात्य राजनीति सर्वथा विफल ठहर कर अपने साथ विश्व को भी ले डूबेगी। कामन्दक ने भी संक्षेप में इसी का संकेत किया है :—

"स्वर्गानन्त्याय धर्मोयं सर्वेषां वर्णिलिंगिनाम्।
अस्याभावे तु लोकोऽयं संकरात् नाशमाप्नुयात्" ॥

भारतीय राजनीति की विशेषता का यह तीसरा परिचय पा लेने के अनन्तर अब चतुर्थ विशेषता के निरूपण क्रम में उस सत्त्वगुण के प्रयोजन पर यहाँ प्रकाश डाला जायगा जो राज्य के लिए प्राणतुल्य महत्त्व रखता है और वेदों के प्रसंग से भारतीय राजनीति की अपनी चीज है। ऐसे अमूल्य तत्व के संबंध में अन्य राज-नीतियों की रंकता तो अमिट है ही।

ऊपर के विवेचन में प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान के साथ शब्द प्रमाण अर्थात् आगम प्रमाण को जो अपनाया गया है उसका मूल्य शासन में सत्वगुण की अभि-

वृद्धि से संबंध रखता है। शासन या राजा कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं वरन् राज्य का हो अंग है। उसका कार्य गुणवानों का संग्रह कर राजकाज को चलाना होता है। राज्य का मतलब यों समझें कि जिस प्रकार पैर से लगाकर सिर तक अवयव समष्टि को शरीर की संज्ञा दी जाती है उसी प्रकार अपने अपने शीलादि गुणों से सम्पन्न राजा, मंत्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल और मित्र इन सभी के समुच्चय का नाम राज्य है। कामन्दक ने भी कहा है :—

"स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत् ।
एतावदुच्यते राज्यं सत्त्वबुद्धिव्यपाश्रयम्" ॥

जयमंगला में इस श्लोक के विवेचन में **"राज्यं राजेत्यभिधानप्रत्यययोः प्रवृत्तिनिमित्तं तच्च स्व स्व सम्पदुपेतं प्रकृतिसप्तकमेव भवितुमर्हति"** ऐसा अर्थ किया है और इस श्लोकमें आये "सत्त्वबुद्धिव्यपाश्रयम्" शब्द का तात्पर्य यह है कि सत्त्व और बुद्धि यही ऐसे दो साधन हैं जो राज्य के उपर्युक्त सातो अंग को एकसूत्रता में ग्रथन कर सबके संरक्षण पूर्वक लाभ उत्पन्न करते हैं। कहा भी है **"क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे"** अर्थात् बड़े लोगों की सारी सफलताएँ उनके सत्त्वगुण में ही आधारित हैं, टण्ट-घण्टों के संग्रह में नहीं।

इसी तथ्य की सचाई राम, युधिष्ठिर, नल आदि अपने जीवन में प्रकट कर गये हैं। "सत्त्वगुण की चर्चा" निर्वाचनवाले प्रसंग में संक्षेप में आ चुकी है तथापि यहाँ उस पर विशेष प्रकाश डालना आवश्यक है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने "प्रत्यभिज्ञादर्शन ग्रंथ" में सत्त्व के निरूपण में कहा है—

'स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।
मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः ॥'

(अर्थात्, भगवान् की ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और मायाशक्ति ही उनके अंशभूत जीव में क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के रूप में आया करती हैं।)

मतलब यह कि सत्त्व का अर्थ ज्ञान ही है और जीव के अन्दर सत्त्व के रूप में भगवान् की उस ज्ञानशक्ति का ही अंश झलकता है। उस सत्त्व के प्रकाश में जीव "कर्तत्व" के लिए उद्यत होता और कार्य को फल सिद्धि तक पहुँचाकर ही विश्राम लेने का जीवट प्रकट करता है। इसका मतलब ही यह है कि कार्य के संबंध की सारी जानकारी, उसे सफल बनाने की उत्कट अभिलाषा और तन्निमित्तक आवश्यक उद्योग ये तीनों ही संबल उसे पूर्णतया प्राप्त हैं। इतना ही नहीं, वह अन्य लोगों को भी अपनी कार्य योजना में घसीट लेने का ऐसा पूर्ण मनोबल रखता है जिसमें दूसरा कोई उसे बहका ले जाय, यह संभव नहीं होता। ऐसे कर्तृत्व को दूसरे शब्दों में, सच्चे अर्थ में, "स्वातंत्र्य" कहते हैं। पाणिनि ने भी अपने सूत्र में **"स्वतंत्रः कर्ता"** कहकर "स्वतंत्र" को "कर्ता" शब्द का पर्याय माना है। "स्वतंत्र" शब्द की व्याख्या में निबन्धकारों ने भी **"स्वेतरसकलकारकाप्रोयज्यत्वे सति इतरकारकचक्रप्रयोक्तृत्वं स्वातन्त्र्यं कर्तृत्वं"** कहकर ऐसा उपर्युक्त अर्थ ही स्पष्ट किया है कि "कर्ता" अथवा "स्वतंत्र" संज्ञा उसी के लिए लागू है जो दूसरों को प्रेरणा करे पर स्वयं दूसरों के बहकावे में न आ सके। ऐसा कर्तृत्व जो जीव के अन्दर होता है वह, दूसरा कुछ नहीं, प्रत्यक्ष ईश्वर की झलक है।

अब इसका विचार करें कि पूर्णतः थकान से परित्रस्त हो, जगत की सारी बातें भूल, घनघोर निष्क्रियताके आवाहनार्थ, जब प्राणी निद्रामग्न होता है उसी समय उसकी अत्यन्त अज्ञानावस्था में भोजनका पाचन कर उससे निर्मित अचेतन रस, रक्त आदि का शरीर में यथोचित संचार व्यापार कौन चलाता है? निष्क्रियतापूर्वक निद्रामग्न जीव के वश की तो उसमें कोई बात है नहीं। कहना होगा कि इस व्यापार को चलानेवाला कोई तो कर्तृत्वशक्ति संपन्न 'चेतन' शरीर के अन्दर जागृत है ही। वह दूसरा कोई नहीं, साक्षी (जागृत), स्वतंत्र, चेतन, एकमात्र परमेश्वर ही है। यही सिद्धान्त भागवत के निम्नलिखित श्लोक में प्रतिपादित है :—

"योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां,
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।

अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्,
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्" ॥

(अर्थात्, उन भगवान् वासुदेव को नमस्कार है जो हमारे अन्दर बैठकर हमारी वाणी, हाथ, पैर, कान, चर्म, प्राण आदि को अपनी कर्तृत्व शक्ति से स्फुरित कर रहे हैं।)

आधुनिक मतवादी भी मानते हैं कि स्वतंत्रता ही चैतन्य है और पारतंत्र्य ही जड़ता है। इस प्रकार दूसरे शब्दों में वे भी उस चेतन परमेश्वर का ही संकेत करते हैं। यहाँ इतने ही संक्षिप्त विवेचन से ईश्वर के प्रत्यक्ष अस्तित्व की झलक दिखलाकर अब ईश्वर और जीव के संबंध की चर्चा जरूरी है, जिससे जीव में प्राप्त ईश्वर की ज्ञानशक्ति की झलक "सत्त्व" का परिचय स्पष्ट मिल सके।

ऊपर के विवेचन में जहाँ पर स्वीकार किया जा चुका है कि जीव की निद्रावस्था में परमेश्वर ही जागरूक रहकर शरीर को पुष्ट बनाने आदि का सारा कार्य करता है, वहाँ अब यह स्वीकार करने में क्या बाधा है कि जीव की जागृत अवस्था में भी होनेवाले समस्त कार्यों में परमात्मा का कर्तृत्व व्यक्त है। प्रत्येक प्राणी सोकर उठने पर कहता है कि "आज मैं बड़े सुख में सोता रहा"। इससे स्पष्ट है कि घनघोर अचेतना में "सोकर सुख की अनुभूति बड़े चैतन्यपूर्वक रातभर" जिस "मैं" ने संग्रह की, दिन में जागकर उसी सुख की कथा या याद बोलनेवाला "मैं" भी वही है। इन दोनों प्रत्यक्ष सिद्ध युक्तियों से यह निर्विवादरूप में स्पष्ट हो जाता है कि जीव अन्य कुछ नहीं सतत जागृत, परम चेतन, सर्वतंत्र स्वतंत्र, कर्तृत्वं सम्पन्न एकमात्र परमेश्वर ही है।

वह सर्वशक्तिमान् परमेश्वर एक होने पर भी अपनी "माया" से जो प्रत्येक घट में व्याप्त हो, अनन्त जीवों के नाम से अलग अलग प्रतीत होता है, इसका कारण "एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय" ऐसी उसकी दुर्दम्य अभिलाषा ही है। इसे यों समझ सकते हैं कि एक ही सूर्य अनेक दर्पण (उपाधि) के प्रसंग से स्वयं अनेक सा हुआ दिखलायी पड़ता है। यह बात प्रत्यक्ष होते हुए, कोरी कल्पना ही नहीं, यथार्थ है और वेदांत, साहित्य, दर्शनों आदि से भी सम्मत है। सूर्य को "अनेक" बनाकर दिखलानेवाले "दर्पण" के समान ही ईश्वर को भी अनेक जीवों के रूप में दिखलानेवाले

दर्पण का ही नाम "माया" है, जिसे "अविद्या" भी कहा जाता है। अविद्या की संज्ञा उसे इसीलिए प्राप्त है कारण वह "एक" को "अनेक" दिखलाती है। वही "अविद्या" सर्वशक्तिमान्, ज्ञान निधान, परमानन्द भगवान् को जीवरूप में प्रतिबिम्बित करने पर न केवल खंडित शक्ति, खंडित ज्ञान और खंडित आनन्दवाला ही वरन् मूर्खराट् तक बना देती है। यही कारण है कि जीव वस्तुतः सर्वतंत्रस्वतंत्र "कर्तृत्व" सम्पन्न होते हुए भी कार्यों के मौके पर अपने को असमर्थ समझता है।

परन्तु, ज्यों-ज्यों अभ्यास या सत्संग से अज्ञान की मात्रा घटती है, त्यों-त्यों जीव का उद्‌गार होता है कि "मैं इसे जानता हूँ"। ऐसे कथन का मर्म यह है कि ऐसा दावा जीव में उस कार्य के प्रति कर्तृत्व की क्षमता द्वारा ही होता है। जब तक "कर्तृत्व" शक्ति जागी नहीं तब तक किसी कार्य की जानकारी का दावा मिथ्या या व्यर्थ है। कार्य की जानकारी, उसे सम्पन्न करने की इच्छा और उसकी पूर्ति के उद्योग से संपन्न मनुष्य "समर्थ" कहा जा सकता है और इसी समर्थता में कार्य संपन्न होने पर "आनन्द" की अनुभूति भी होती है। जीव के समक्ष आनन्द के योग आते-जाते रहते हैं। इसका कारण यह है कि उसको अपने सारे संकल्पों में सम्यक् कर्तृत्व का भरोसा नहीं रहता। जीव की अपेक्षा ईश्वर का वैशिष्ट्य इतना ही है कि उसके समस्त संकल्प में कर्तृत्व बल से तुरत सफलता बँधी रहती है अर्थात् उसके संकल्प के पीछे पीछे सफलता दौड़ती है। यही कारण है कि वह परमानन्द कंद के संबोधन से विख्यात है।

इस प्रकार, उपर्युक्त विवेचन से यह बात ध्यान में आ गयी होगी कि सभी कार्यों के बारे में भगवान् की जानकारी (ज्ञान), उस कार्य को कर डालने की अभिलाषा (इच्छा या संकल्प) और पूर्ति का प्रयत्न (क्रिया) इन तीनों ही के समन्वय में आनन्द भरा रहता है। यहाँ भगवान् की यह विशेषता ध्यान में रखें कि उसके संकल्प और क्रिया में भेद नहीं रहता। कारण, उसके संकल्प के साथ ही क्रिया संपन्न होती है। इसीलिए, आचार्य अभिनवगुप्त ने **"पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या"** शब्दों में भगवान् के बारे में केवल "ज्ञान" और "क्रिया" इन्हीं दो शब्दों का संकेत किया है, क्योंकि "संकल्प" यहाँ "क्रिया" में ही आ जाता है। ईश्वर का वही आनन्दपरिलुप्त

ज्ञान जीव भाव में "सत्त्व" बन जाता है। इसी तरह, उसका आनन्दपरिप्लुत संकल्प और क्रिया जीव भाव में "रजोगुण" बनता है और ऊपर कही जा चुकी ईश्वर की "माया" जीव भाव में "तमोगुण" बनती है। ईश्वर के "ज्ञान की प्रभा" आनंद तरंगित रहने की बात साहित्य में भी निम्नलिखित रूप में कही गयी है :—

"परस्मादात्मनो भान्ति ज्ञानानन्दक्रियाप्रभात्।
ज्ञानप्रभा च सानन्दा तस्याः सत्त्वं प्रजायते ॥"

जीवन के समस्त संकल्प सफल ही होते हैं, ऐसी बात न होने के कारण जीव विफलता से टकराकर दुःख के पारावार में निमग्न होता है। इसे सभी जानते हैं। पर, यदि जीव कहीं ऐसी स्थिति बना ले कि उसके संकल्प (इच्छा) ईश्वरी संकल्पों से भिन्न न हों तो यह स्वयं सिद्ध है कि न कभी उसे विफलता मिलेगी, न दुःख का कोई प्रसंग होगा, उलटे पग पग पर सफलताओं से युक्त आनन्द का सागर ही लहराता मिलेगा।

ऊपर के विवेचन से यह बात भी खुल-सी चुकी है कि ईश्वर की इच्छा से घुली-मिली जीव की "इच्छा" कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं वरन् उसकी पूर्वपीठिका "ज्ञान" ही है। अतएव, "इच्छा" के भीतर भी आनन्दकी झलक लिए "ज्ञान" की झलक का रहना स्वाभाविक है। ऐसी ईश्वरेच्छा के अनुसरणपूर्वक होनेवाले उद्योग भी आनन्द तरंगित ही रहेंगे। इसलिए, जो उद्योग (नीति) ईश्वर वर्णित है, उनमें "ज्ञान" और "आनन्द" की झलक रहने के कारण, उनको अपनाना ही "सत्त्व" का समाराधन है। ईश्वर वर्णित उद्योग (नीति) को निश्चयपूर्वक समझ लेना "बुद्धि" का कार्य है। इन्हीं "सत्त्व" और "बुद्धि" का योग यदि सध सके तो यही राज्य के सातों अंगों की सुव्यवस्था एवं लाभ को सुनिश्चित बना देंगे और कहना पड़ेगा कि राजनीति का महाप्राण यही तत्त्व है।

अनंत प्राणी मात्र की अनंत इच्छाओं का रास्ता रोककर उसे अपनी इच्छाएँ ईश्वर इच्छाओं में ही बाँधने की जो बात यहाँ कही गयी है उससे यह भ्रम न करना चाहिये कि इस प्रकार तो जगत् की इच्छाओं का दिवाला ही पीट दिया गया,

अथवा इच्छाओं के नाम पर कोई अति संकीर्ण दायरा बाँध दिया गया है। वस्तुतः अनंत प्राणी की अनंत इच्छाएँ धर्म, अर्थ, काम मूलक ही तो होनेवाली हैं। इनकी सिद्धि के लिए ही अनंत प्राणी अनंत प्रयत्न परिकल्पित कर सकते हैं और सफलता न पाने पर दुःख भागी बनते रहेंगे। ऐसी समस्त विफलताओं से बचकर, उक्त तीन कोटि के अंतर्गत आनेवाली सबकी समस्त इच्छाएँ, सर्वदा सुनिश्चित रीत्या सफल बनाने की मंशा से ही भारतीय राजनीति ने ईश्वरेच्छा का मार्ग पकड़ा है।

ईश्वर का अस्तित्व ऊपर की पंक्तियों में प्रत्यक्ष और शास्त्र के आधार से घट-घट के भीतर स्पष्ट किया जा चुका है। अब यह जो ईश्वरेच्छा की बात आयी, उस पर प्रश्न हो सकता है कि वह इच्छाएँ कहाँ प्राप्य हैं? संक्षेप में इसकी भी जानकारी यहाँ प्राप्त करें।

ईश्वर की इच्छाएँ अथवा संपूर्ण जगत् के शाश्वत हित का परमपूर्ण विधान एकमात्र वेदरूप शब्दराशि में ही प्राप्त है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कहीं भी पूर्वापर विरोध अथवा लेश भी अहित की संभावना का प्रसंग नहीं मिलता। माया से आवेष्टित मानव (जीव) अपने कोरे बुद्धि बल पर लाख भी शोध करता बैठे, तब भी उसके सीमित ज्ञान के कारण, त्रुटि की संभावना बनी ही रहती है। वह एक ओर ध्यान देगा तो दूसरी ओर दुर्लक्ष्य एवं तज्जन्य हानि स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ, बिजली को देखें कि उससे प्रकाश तो फैला पर साथ में नेत्र ज्योति की हानि अनपेक्षित ही कूद पड़ी। आधुनिक शोध की इंजेक्शन चिकित्सा-प्रणाली की भी आज धूम है। पर, अब इसके दुष्परिणाम धीरे धीरे प्रकट हो चले हैं। लक्षणों के आधार पर डाक्टरी चिकित्सा शीघ्र व्याधि दबा देती है, पर उसी दवा से दूसरी नयी व्याधि न खड़ी हो जाय इसकी जिम्मेदारी वह नहीं ले पाती। नयी व्याधियाँ और नयी महामारियाँ खड़ी होने पर डाक्टर परेशानी में पड़ जाते हैं। पर,इन सबके विपरीत,वेद पर आधारित आयुर्वेद मौलिक सिद्धान्तों के सहारे सभी स्थितियों का निर्दोष सामना करता है। उसके समक्ष निदान या चिकित्सा की दृष्टि से कोई व्याधि नयी हो सकती नहीं। कारण, उसकी

चिकित्सा लक्षणों के अनुसार नहीं, कारणों पर चलती है। परम्परागत चिकित्सा, औषध प्रक्रिया, रोग लक्षण एवं रोग के निदान आदि के संबंध में इसी कारण कोई भी विशेपज्ञ अभी तक कोई दोष सिद्ध नहीं कर सका वरन् उसका लोहा ही मानने को विवश हुआ। जिस वेद से निकले आयुर्वेद का इस प्रकार अपना निराला चमत्कार सिद्ध है वही वेद सीमित ज्ञानवाले समस्त जीवों के कल्याणार्थ सत्त्व, शील और सदाचार आदि का उपदेश करते हैं। ईश्वर का परम अनुग्रह ही ऐसी वेदोक्त विधियों के भीतर सूर्य प्रकाशवत् भासित है। कोई भी विचारशील उसका अनादर कैसे करेगा? ईश्वर के उस वेदोक्त अनुग्रह की उपेक्षा का एक ही फल निश्चित है कि राज्यचक्र को सुस्थिर बनानेवाले प्राणाधार सत्त्वगुण से हाथ धो बैठेंगे, और प्राणविहीन राज्य-चक्र विनाश के घाट लगे बिना न रहेगा। यही वह रहस्य है जिसे कलेजे में बैठाये चाणक्य जैसे भारतीय राजनीति के आचार्यों ने अपना मार्ग वेदों पर ही आधारित रखा। वेदों की प्रामाणिकता तो उनकी परम निर्दोषता में ही झलक रही है। प्रामाणिकता का स्वभाव ही निर्दोषता है। नेत्र यदि निर्दोष हों तो अपने दृष्टि के समक्ष की बात को चार धूर्तों के बहकावे में अन्यथा समझने लगना मूर्खता ही कही जायगी। यदि अपनी आँख चिकित्सा शास्त्र के मत से निर्दोष है तो "प्रत्यक्ष" अपनी आँखों के देखे को सत्य ही मानना होगा। इसी प्रकार, "अनुमान" भी, यदि बाध, सत्प्रतिपक्ष, विरोध, असिद्धि और व्यभिचार (नियम-विपर्यय) इन पाँच दोषों से मुक्त हो तो, युक्तिवादी उसे प्रमाण मानते ही हैं। इसी प्रकार, लौकिक या वैदिक कोई भी "शब्द" वक्ता के भ्रम, प्रमाद, विप्र-लिप्सा (छल) और करणापाटव (उच्चारण दोष) इन चार दोषों से मुक्त होने पर "प्रमाण" बनकर सर्वत्र मान्य होता है। इन सब दृष्टियों से देखें तो वेदों की शब्द-राशि भ्रमादि चारो दोषों से परे मिलेगी। कारण, वह उन भगवान् की वाणी है जिन्होंने सूर्यादि देवताओं को अपनी आज्ञा के अन्तर्गत परिचालित रखा है, संपूर्ण पाञ्च भौतिक तत्त्वों पर जिनकी सत्ता है और जिनको अपना कोई स्वार्थ नहीं है।

इसीलिए भगवान् कृष्ण का भी कहना है कि शास्त्र की मर्यादा मानकर चलना ही लोक में कल्याण का सुनिश्चित पथ है। कारण, इसी प्रकार दैवी संपत्ति के मूल 'सत्त्व' का समाराधन बनता है। गीता में कहा है :—.

'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।'

सन्त शिरोमणि ज्ञानेश्वर ने भी इसी प्रकार वेदों के संबंध में कहा है "जो जगीं सम समान सकृपु। हिताहित दाखविता दीपु। तो अमान्य केला बापु। वेदु जेणे (२३ अध्या० ९६ श्लोक) भारतीय राजनीति ने इन्हीं आधारों पर राज्य के मूलाधार "सत्त्वगुण" की अभिवृद्धि के लिए वेदों को प्रत्यक्ष एवं अनुमान के साथ ही तीसरा प्रमाण मान रखा है। यह भारतीय राजनीति का यहाँ वर्णित वह चौथा वैशिष्टय है, जिससे अन्य राजनीतियाँ सर्वथा वंचित हैं।

भारतीय राजनीति की सर्वांगपूर्णता के विचार-क्रम में यहाँ तक जनता एवं राज्यों के बीच स्थिर संधि स्थापन के सूत्र, शासन सौष्ठवजनक निर्वाचन पद्धति, गुणोत्कर्ष विधायक प्रणाली, राज्यों के लिए प्राण रूप महत्त्व का सत्त्व-तत्त्व, इन चार का निरूपण हुआ है। अब आगे इस प्रश्न पर विचार आवश्यक है कि प्रजा के प्रति अपनी सफलता के लिए शासन साम, दान, भेद और दंड इन चार निर्धारित नीति मार्गों में विशेषरूप से किसका अवलंबन करे ? भारतीय राजनीति ने परम निर्दोष रूप में इसका विचार किया है। इस संबंध में भी पाश्चात्य राजनीति की गंभीर त्रुटियाँ आगे खुलने ही वाली हैं जिनसे यहाँ पाँचवीं विशेषता के रूप में भारतीय राजनीति का वैशिष्टय सामने आयेगा।

यह बात पहले कह आये हैं कि सद्व्यवहार का झंडा उठाकर जो व्यक्ति जनता के बीच खड़ा होना चाहे और सफलता की भी अभिलाषा रखे, उसके लिए, आवश्यक है कि वह घट घट निवासी, सतत जागृत, परमेश्वर की अभिन्नता में घुलमिल जाय। ईश्वर में घुले-मिले व्यक्ति का यह स्वभाव बन जाता है कि उसके मानस में लहराती दयालुता के अगाध सागर में किसी भी व्यक्ति को दंड देने की

सकसा प्रवृत्ति ही नहीं होती। वह "वसुधैव कुटुम्बकम्" के भाव में प्रत्येक प्राणी को अपने ही लाड़ले पुत्र जैसी वात्सल्य दृष्टि से देखने लगता है। ऐसे ही व्यक्ति के संबंध में कविकुल गुरु कालिदास की उक्ति है कि--

"प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥"

(अर्थात्, लोक में नम्रताकी शिक्षा फैलानेवाले, भरण-पोषण का पूर्ण ध्यान रखनेवाले दिलीप राजा को प्रजा अपना पिता मानती थी और वास्तविक पिता तो जन्मदाता मात्र होने के कारण प्रतिष्ठित थे।)

ऐसा व्यक्ति कभी दंड का आश्रय लेता ही नहीं, ऐसी बात नहीं जब वह देख लेता है कि दंड के सिवा सुधार का कोई दूसरा चारा नहीं तभी वह सीमित रूप में इस लक्ष्य से बड़े कष्ट के साथ दंड का प्रयोग करता है, जिससे अत्यन्त अपराधी पुनः अपराध करने में प्रवृत्त न हो और उसका प्रायश्चित्त हो जाय। प्रायश्चित्त के रूप में प्रयुक्त हुआ ऐसा दंड जन विक्षोभ का कारण नहीं बनता वरन् जनता का अनुराग ही बढ़ाता है। इसके उदाहरण अत्यन्त दुष्ट दानवों के वध रूप प्रायश्चित्त के बाद उन्हें मिली सद्गति की कथाओं में प्राप्त ही है। देवताओं ने ऐसे प्रयोग की सराहना में कहा है :—

"एभिर्हतैर्जगदुपैतु सुखं तथैते,
कुर्वन्तु नाम नरकाय चिराय पापम्।
संग्राममृत्युमधिगम्य दिवं प्रयान्तु,
मत्वेति नूनमहितान्विनिहंसि देवि"॥

(अर्थात्, "हे देवि, आपने चिर नरकवास के पात्र दैत्यों को वध दण्ड इसलिए दिया, जिससे वे शुद्ध होकर स्वर्ग जायँ और जगत भी सुख भोगे।")

ऐसे दयालु लोगों के प्रति साहित्य में भी "वीर" शब्द का प्रयोग आया है। ऐसे वीर प्रकृति के मनुष्य पग-पग पर अपनी विवेकी शक्ति का उपयोग करते रहते हैं। मेघनाद के इन वचनों पर ध्यान देने से बात स्पष्ट हो जायगी।

"क्षुद्राः सन्त्रासमेते विजहित हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भाः
युष्मद्देहेषु लज्जां विदधत इह मे सायका निष्पतन्तः।
सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः
किंचिद्भ्रूभंगलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि"।

वह कहता है "ऐ क्षुद्र बन्दरो ! तुम सब अपना भय छोड़ो। ऐरावत के गंडस्थल को भेदनेवाले मेरे बाण स्वयं ही तुम्हारी ओर बढ़ने में संकोच कर रहे हैं। ऐ लक्ष्मण, तुम भी मेरे क्रोध के पात्र नहीं, कारण मैं मेघनाद हूँ। मैं तो उस राम की खोज में हूँ जिसने अगाध सागर अपने भ्रुकुटि विलास में ही कब्जे में कर लिया।"

यहाँ अल्पप्राण बन्दरों पर दयावश ही वीर मेघनाद बाण छोड़ना नहीं चाहता। इतना विवेक उसको है कि वह लक्ष्मण को भी अपने क्रोध का शिकार बनाना नहीं चाहता। दयाविहीन मनुष्य क्रोध की पराधीनता में जो भी अनर्थ न कर डाले वही थोड़ा है। पर, ऐसी वृत्ति से उसकी संज्ञा वीर की अपेक्षा "रौद्र" होगी। उदाहरणार्थ वेणीसंहार नाटक का यह पद्य देखें :—

"कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरु पातकम्,
मनुजपशुभिः निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिनाम्,
अयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्।"

(अर्थात्, पिता के मरण से क्षुब्ध अश्वत्थामा विवेक खोकर कहता है कि "यह गुरुहत्या जिस नरपशु ने की, जिसने इसमें अनुमति दी या जिसने देखा, उन कृष्ण से लगाकर अर्जुन पर्यन्त सभी मर्यादाद्रोहियों के रक्त, मांस और मज्जा की मैं तत्काल ही बलि चढ़ाना चाहता हूँ।")

अश्वत्थामा के इन शब्दों से प्रकट है कि वह निर्दोष की भी हत्या किया चाहता है। उसकी ऐसी विवेकहीन वार्ता किसी को भी प्रिय लगनेवाली नहीं। इससे प्रकट होता है कि रौद्रभाव में आया मनुष्य कर्त्तव्य की अपेक्षा स्वेच्छाचार (अनियंत्रित काम) का गुलाम बन जाता है। यदि उसके मनोरथ में कोई बाधा पहुँचाये

तो स्हीं "क्रोध" का प्रादुर्भाव होगा। क्रोध के आते ही तर्कशक्ति और मति इन दोनों की तत्काल हानि निश्चित है और अश्वत्थामा की ही तरह अनेकशः कुनीति में प्रवृत्ति सुगम हो जाती है। ऐसे दूषित व्यक्ति के प्रति लोकधारणा बिगड़े बगैर कैसे रह सकती है ? राज्य का संघटन बनाना तो दूर रहा, विघटन रोक पाना भी एक समस्या बन जायगी। सारांश यह कि रौद्र-प्रकृति का शासक प्रजा के बीच साम, दान, भेद और दंड इन चारो में से एक भी उपाय के उपयोग का पात्र नहीं।

साम–दानादि उपायों का योग्यतापूर्वक प्रयोग कर वही वीर व्यक्ति यश का भागी बन सकता है जो स्वेच्छाचारितात्याग नीतिपूर्ण कर्त्तव्यों का अनुसरण करता है। उसके कार्यों में नीति की मात्रा जिस परिमाण में परिपुष्ट रहेगी, उसी परिमाण में उसका सुयश सुनिश्चित होगा और कोई अपवाद भी न लगेगा। ऐसे ही सत्कर्म के मन्तव्य से गीता में कहा है "**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।**" (अर्थात्, "ऐसे सत्कर्म से न तो क्रम भंग दोष आता है या न पाप ही लगता है।")

इसी तत्त्व पर दृष्टि रखकर मीमांसकों ने "नित्य कर्मों" के संबंध में भी "**यथाशक्ति कर्तव्य**" की सम्मति प्रदान की है। वे कहते हैं कि कर्त्तव्यरूप से प्राप्त नित्य कर्म के लिए अपनी शक्ति भर जुटाया साधन ही पर्याप्त है। यह आवश्यक नहीं कि उसके लिए शक्ति के बाहर संपूर्ण साधन जुटाये ही जायँ। कारण, यहाँ उद्देश्य ईश्वर की सेवा या प्रसन्नता है, अपना कोई अभीष्ट नहीं। "**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति**" में भी यही बात कही गयी है।

अपने अभीष्ट विशेष से किये जाने वाले कर्म में इस "यथाशक्ति" न्याय का उपयोग किसी भी दशा में नहीं किया जा सकेगा। कारण, इसमें ईश्वर की सेवा गौण और अपना अभीष्ट मुख्य होता है।

यहाँ तक, रौद्र और वीर इन दोनों प्रकृतियों के तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट किया गया है कि वीर स्वभाव का मनुष्य अपने स्वल्प साधनों के अनुकूल थोड़ा भी कार्य क्यों न करे पर वह सफल ही होगा, किन्तु स्वेच्छाचार द्वारा मनोरथसिद्धि चाहनेवाला रौद्र वृत्ति का मनुष्य कदाचित् किसी कार्य में सफल भी हो जाय पर वैसी सफलता उसके प्रत्येक कार्य में बनी रहेगी, ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता।

भारतीय राजनीति में ऐसा आदेश ही नहीं कि रौद्र मनोवृत्ति का सहारा लेकर कोई अनुष्ठान संचालित हो। कामन्दक का कहना है :—

"अवश्यमायान्ति वशं विपश्चितां उपायसन्दंशबलेन संपदः।
भवत्युदारं विधिवत्प्रयोजिते फलं हि राज्ञां क्वचिदर्थसिद्धये"।

(अर्थात् "कोरी सिद्धि के उद्देश्य से किया गया सामाजिक उपायों का प्रयोग पहले तो ठीक उतरता नहीं। कदाचित् प्रयोग कुछ सध भी जाय तो भी सिद्धि सीमित ही होगी। परन्तु, कर्त्तव्य पथानुगामी विवेकी वीर जितने भी अंश में सामाजिक उपायों का प्रयोग करेगा, अर्थ उसके पास स्वयं ही खिंच आयेगा।") यह बात उपर्युक्त श्लोक पर जयमंगला टीका से स्पष्ट हो जाती है जिसमें कहा है "उपाय एव सन्दंशः तेनाकृष्यमाणत्वात्। तद्बलेन तत्सामर्थ्येन। उदारं महत् फलमिति संबंधः। विधिवत्प्रयोजिते उपाये क्वचित्, अर्थ सिद्धये इति संबन्धः"

श्रीकृष्ण के भी "मा कर्म फल हेतुर्भूर्मा ते संगो स्त्वकर्मणि" कथन में यही मन्तव्य है कि मनुष्य कर्तव्य के प्रति वीरोचित वृत्ति अपनाये, रौद्रवृत्ति से इसमें काम न चलेगा। कर्तव्य में लगने से फल आप आयेगा। न फल को लक्ष्य बनाना ही ठीक है और न अकार्य में लगना ही उचित है।

साहित्य में वीर और रौद्र के स्वरूप एवं स्वभाव का जो वर्णन मिलता है, उसे देखने से यह स्पष्ट होगा कि पाश्चात्य राजनीति में वीर वृत्ति की ओर लोगों को प्रवृत्त करने की बात ही नहीं है। उसकी इस गंभीर त्रुटि का प्रकाश अग्रिम विवरण से सामने आ जायगा।

भाव प्रकाशन में वीर प्रकृति के मनुष्य के बारे में कहा है—

"उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहात्मा विभाव्यते"।

अर्थात्, वह निश्चय ही उत्साह से भरा रहता है और स्वयं सत्वयुक्त होने के कारण नीति विरुद्ध कदम ही नहीं उठाता। यही उसकी उत्तमता का लक्षण है। संक्षेप में यों समझ सकते हैं कि उसकी बुद्धि धर्मप्रधान होती है। वह अर्थ या काम को उद्देश्य बनाकर कोई बात नहीं छेड़ता। पर, अपने व्यवहार

में ही जनता का सारा आकर्षण बाँधे बैठे रहने के कारण उसके समक्ष अर्थादि स्वयं ही खिंच आते हैं। जिस प्रकार सिंह स्वतंत्र मनोवृत्ति का, दक्ष और उत्साही होने से ही सब पशुओं का राजा कहलाता है, उसी प्रकार स्वतंत्र, विवेकशील, दक्ष और उत्साही पुरुष सब का मन जीतकर नरेश, मंत्री आदि पद प्राप्त कर सकता है। कामन्दक का भी यही कहना है :—

"शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहोपोहोऽर्थविज्ञानं तत्वज्ञानं च धीगुणाः ॥
दाक्ष्यं शैघ्र्यं तथाऽमर्षः शौर्यं चोत्साहलक्षणम्।
गुणैरेतैरुपेतः सन् राजा भवितुमर्हति" ॥

उत्साह पर जोर इसलिए दिया गया है कारण वह विषाद, मोह और विस्मय से मनुष्य को अलग रखता है। उत्साही पुरुष की भावना होती है कि संसार में उसके समक्ष कोई कार्य असाध्य नहीं। वह अपने मन में जो धारणा करता है उसे पूरा करके ही छोड़ता है। इसीलिए, उसे कभी आश्चर्य या विस्मय का भी प्रसंग नहीं आता। सत्त्वगुण के बाहुल्य से वह ईश्वर में घुलीमिली अपनी प्रवृत्ति के कारण नीति में भी नहीं चूकता और मोह से बचा रहता है। कर्त्तव्य भावना से ही परिचालित होने के कारण विघ्नों के बीच विषाद (दुःख) उसके समीप फटक भी नहीं पाता। गुणवान् और कुलीन लोग उसकी मित्रता पाने के लिए आप ही झुकते हैं। मंत्रणा शक्ति, शासन शक्ति और इनके मूल विनय एवं नीति के बल पर राजलक्ष्मी भी उसके गले में जयमाल्य डालती है। यही मन्तव्य भावप्रकाशन के निम्नलिखित श्लोकों में व्यक्त है :—

"उत्साहस्सत्वसंपत्तिशौर्यत्यागादिसंभवः।
अविस्मयादसंमोहादविषादित्वतोऽपि च ॥
पुरुषार्थविशेषेषु कार्यतत्वार्थनिश्चयः।
पराक्रमः प्रतापश्च दुर्धर्षप्रौढ़सैन्यता ॥

यशः कीर्तिश्च विनयो नयश्च प्रभुशक्तिता ।
मंत्रशक्तिश्च संपन्नधनाभिजनमित्रता ॥
इत्यादयो विभावाः स्युर्वीरस्य कविकल्पिताः ।"

इस उद्धरण में आये मंत्रशक्ति, यश और कीर्ति के बारे में थोड़ी पृथक् व्यवस्था आवश्यक है। मंत्र या मंत्रणा शक्ति उसे कहते हैं, जिसका उपयोग वीर साम आदि के प्रसंग में करता है। जयमंगला टीका में भी यही कहा गया है। "**षाड्गुण्योपयोगी विचारो मन्त्रः**"। कीर्ति का मतलब है कुलपरंपरागत व्यवहार से संभव हुई ख्याति। उदाहरणार्थ, तुलसीदास कहते हैं "**रघुकुलरीति सदा चलि आई। प्राण जाइ परु, वचन न जाई**"। यश के संबंध में कुल परंपरागत व्यवहार का प्रश्न नहीं, कारण यश व्यक्ति विशेष के निजी व्यवहारों पर ही आधारित होता है। उदाहरणार्थ, कालिदास के शब्दों में राजा दिलीप अपने सम्मुख परीक्षार्थ उपस्थित सिंह के प्रति कहते हैं।—"**यशः शरीरे भव मे दयालुः**" अर्थात् गौ के बदले कृपया मुझे ही खाना स्वीकार कर गौ सेवा विषयक मेरे यशः शरीर को अमर बना दो। यश और कीर्ति वस्तुतः कार्य की सफलता के वाद की चीज है पर उन्हें उपर्युक्त श्लोक में इस मंशा से दिया गया है कि ज्यों-ज्यों यश और कीर्ति बढ़ती जायगी त्यों-त्यों व्यक्ति का उत्साह भी बढ़ता जायगा।

सत्वादि गुणवाला वीर किस प्रकार तैयार होता है, यह ऊपर के विवरण में बतलाने के अनन्तर अब भाव प्रकाशन के शब्दों में यह देखें कि कौन कौन अनुष्ठान उसके बायें हाथ के खेल बन जाते हैं।

"स्थैर्यशौर्यप्रतापैश्च धैर्यैराक्षेपभाषितैः ।
सामादीनामुपायानां यथाकालप्रयोगतः ॥
भाषितैर्भावगम्भीरैरनुभावा भवन्ति ते ।"

अर्थात्, स्थिरता, शूरता, प्रताप, धैर्य, शत्रु की निर्भीक टीका और साम आदि नीति का समयानुकूल ठीक प्रयोग यह वातें वीर को सिखानी नहीं पड़तीं। इन

समस्त अनुष्ठानों में वह साम पर ही विशेष जोर देता है, इसका एकमात्र कारण उसकी सत्व प्रधानता ही है। ऐसे वीर के सत्तारूढ़ होने से शासन में माधुर्य आ जाता है। जनता में उग्रता की वृत्ति दबकर कर्तव्य की भावना घर करती है। इसका कारण यही है कि उसकी आत्मा में हिलोरें लेती शान्ति की लहर चतुर्दिक अपना प्रभाव फैलाती रहती है। उदाहरणार्थ, ऐसे माधुर्यमय शासन का चित्रण किरातार्जुनीय में भारवि के शब्दों में देखें :—

"न तेन सज्जं क्वचिदुद्यतं धनुः।
कृतन्न वा कोपविजिह्ममाननम्॥
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते।
नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम्॥"

(अर्थात्, पाण्डवों के मुकाबले जनता को स्ववश करने के लिए दुर्योधन ने न कभी धनुष उठाया, न कभी चेहरे पर क्रोध की झलक आने दी। उसका शासन सामन्त-जन यों मानने लग गये जैसे गले में दी जानेवाली माला कोई भी सहज स्वीकार कर लेता है।)

भारतीय राजनीति भी साम प्रयोग को ही मुख्य स्थान देती है। कामन्दक का कहना है :—

"साम्नार्थसिद्धये विद्वान् यतेत यतमानसः।
सामसिद्धिं प्रशंसन्ति सर्वतश्च विपश्चितः॥"

(अर्थात्, विद्वान् को साम द्वारा अर्थ सिद्धि के लिए ध्यानपूर्वक प्रयत्न करना चाहिये। सभी विवेकी सदा इसी की प्रशंसा करते हैं।)

कामन्दक का आगे कहना है कि देवताओं ने भी समुद्रमंथन में साम के ही द्वारा अपना काम बनाया।

"क्षीरोदो मथितः साम्ना फलायामरदानवैः।
निजघ्निरे धार्तराष्ट्राः सामप्रद्वेषिणोऽचिरात्।"

अर्थात्, अमरता प्राप्ति के लिए देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने समुद्रमंथन का आदेश दिया। इस पर देवगण प्रथम शान्तिपूर्वक स्तुति करने (सामसाधन) में बैठे रहे। इसके बाद भगवान् की कृपा हुई और समुद्रमंथन कार्य निर्विघ्न समाप्त हुआ। इसके विपरीत, राजा दुर्योधन साम का त्याग कर, दंड द्वारा (सैन्य शक्ति के बल पर) धर्मराज को हराना चाहता था। यह गौरव वह न पा सका, उलटे समूल नष्ट हो गया।

भारतीय राजनीति द्वारा प्रशंसित यह साम है क्या, अब इसे देखें। **"वागनुद्वेगजननी सामेति परिकीर्त्यते"** जिस वचन से किसी भी हृदय में उद्वेग न भड़के उसी को साम कहते हैं। गर्मी से व्याकुल मनुष्य ठंडक की व्यवस्था से जैसी शान्ति पाता है वैसी ही शीतलता जिन वचनों या व्यवहार से उत्पन्न हो वही साम है। दुनिया उसी का मुँह जोहने लगती है। किसी का जी नहीं चाहता कि उससे दूर जाय। कारण, वह जनता के दुःख में अपना हृदय घुलामिला कर उसके दुःख के निवारण का प्रयत्न करता है और इसमें तनिक भी उपेक्षा नहीं करता। ऐसे मनुष्य की फैलनेवाली प्रियता के प्रति वाल्मीकि की उक्ति देखें :—

यश्च रामन्न पश्येत्तु यञ्च रामो न पश्यति।
निन्दितस्स भवेल्लोके स्वात्माप्येनम्विगर्हति ॥

(अर्थात्, "जिसने राम को न देखा या जिसे राम ने न देखा, वह जग में तो निन्दित होता ही, स्वयं भी पश्चात्ताप करता है।")

सत्य अर्थ में नेतृत्व का रूप यही है। ऐसे ही नेतृत्व से राज्य के सभी विभागों एवं अंगों में ऐसी समरसता उत्पन्न हो जाती है जैसी शरीर के विभिन्न अंगों की एकप्राणता में प्रत्यक्ष व्यक्त है। ऐसे नेता के लिए राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति प्राण न्योछावर करने को उत्साहित रहता है। उदाहरणार्थ, किरातार्जुनीय में भारवि का कहना है—

"महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः ।
न संहतास्तस्य न भिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ।।"

(अर्थात्, "राजा दुर्योधन के नेतृत्व में संपूर्ण सेना स्वेच्छया प्राण देने को तैयार है कारण उसने साम प्रयोग द्वारा मान से, धन से, मीठे शब्दों आदि से सब को स्ववश कर लिया था।)

कामंदक ने साम प्रयोग के पाँच भेद कहे हैं—

परस्परोपकाराणां दर्शनं गुणकीर्तनम् ,
संबन्धस्य समाख्यानं आयतेः संप्रदर्शनम् ॥
वाचा पेशलया साधु तवाहमिति चार्पणम् ,
इति सामप्रभेदज्ञैः साम पंचविधं स्मृतम् ॥

अर्थात्, "(१) उभयपक्ष में परम्परया जो उपकार हुए हों, उन्हें ध्यान में रखना। व्यवहार में इससे शत्रुता की गुँजाइश नहीं रह जाती। (२) जिस व्यक्ति में जो गुण हों, उनकी यथासमर्थ चर्चा करते रहना। इससे गुण ग्राहकता का परिचय मिलता है, ईर्ष्या का अवसर नहीं आता और मित्रता स्थिर होती है। (३) विद्या अथवा विवाहादि के प्रसंग से जिनसे संबंध हो उसकी याद रखना। इससे प्रेम का तन्तु विस्तीर्ण होता है। (४) ऐसी व्यंजना बनाये रखना कि परस्पर उभय पक्ष को यह भासित हो कि दोनों की मैत्री लाभप्रद होगी और (५) मनसा, वाचा, कर्मणा ऐसी अभिव्यक्ति बनाये रहना कि हम आपके ही हैं।")

इन्हीं विधियों का अनुकरण कर विभीषण ने राम की शरण ली और राम ने भी उसे अपना लिया। ऐसे साम की उपेक्षा का कुफल यह होता है कि शत्रु हमारी इस दुरवस्था से लाभ उठा हमारे वर्ग के बीच फसादों की सृष्टि खड़ी कर दे। ऐसी दुरवस्थाओं से मुक्ति पाने के लिए भी साम का विशेपरूप से प्रयोजन है। इस पर कामंदक का कथन है कि

"क्व च नरपतिवर्गः संग्रहः क्व प्रजानां,
मधुरवचनयोगाल्लोकमभ्याददीत।
मधुरवचनपाशैरायतालानितः सन् ,
पदमपि हि न लोकः संस्थितेर्भेदमेति" ॥

इस श्लोक पर जयमंगला टीका में कहा है

"मधुरवचनयोगादिति सूनृतया वाचा युक्तादित्यर्थः सद्वृत्तादिति शेषः। अत्र सद्वृत्तादिति वक्तव्ये मधुरवचनग्रहणं प्रजासंग्रहोपायेषु सूनृता वाणी प्रधानं इति दर्शनार्थम्। पाशाः इव पाशाः मधुरवचनपाशैः आयतालानितः अत्यर्थं सम्बद्धः। पदं स्तोकम् न संस्थितेर्भेदमेति राज्ञि कृतावस्थानाः परैर्न भिद्यन्ते इत्यर्थः।"

(अर्थात्, "कहाँ राजा का पद और कहाँ प्रजारंजन कार्य। इन दोनों के बीच सामंजस्य साधन के लिए पग पग पर मधुर वचन (अर्थात् साम प्रयोग) का पुट ही लोक संग्राहक बननेवाला है। मधुर वचन से पकड़ी जनता नेता के विरुद्ध एक पग जाना भी पातक समझेगी।")

सत्व प्रधान होकर साम प्रयोग द्वारा जनता को वश में लानेवाले नेतृत्व का परिचय यहाँ तक पा लेने के अनन्तर अब यदि पाश्चात्य नीति पर दृष्टि डालें तो उसकी इस संबंधकी त्रुटियाँ स्पष्ट होंगी। पाश्चात्य नीतिमें इस ओर वैसी सुसम्बद्ध दृष्टि नहीं डाली गयी जैसी कि चाहिये। जिसने मनोनिग्रह कर लिया हो वही साम प्रयोग कर पाता है। दुर्योधन की तरह जो केवल मौके के लिए सत्व का अभिनय रचता है वह अपना मतलब तो निकाल लेता है पर बाद में उसका परिणाम उलटा होता है। इसीलिए सज्जनता (सत्व) की जरूरत कही है, जिससे परिणाम उलटे होने की बात ही न रहे। यह बातें ऊपर कह ही आये हैं। पर, तत्व यह है कि सज्जनता की पृष्ठभूमि बगैर परलोक-विश्वास के टिकाऊ रूप में बँध पाती नहीं। जहाँ सिद्धांत यह है, वहाँ पाश्चात्य नीति में जब परलोक की जड़ ही काटी जाती देखने में आती है तब मानना पड़ता है कि उसमें सज्जनता अर्थात् सत्व का स्थान नहीं। जब उसमें सत्वयुक्त वीर वाली परिभाषा का नेतृत्व ही नहीं, तब केवल रौद्र प्रकृति के नेताओं को लेकर वह कब तक टिकेगी? बद्धमूल साम प्रयोग के अभाव में किसी भी कैंड़े पर जन क्षोभ से छूट पाने की आशा आकाश-कुसुमवत् असंभव ही ठहरेगी। पाश्चात्य नीति की यह त्रुटि तो विवेक को ही चुनौती होकर अत्यन्त हृदय विदारक है।

यहाँ तक "साम" के अनुष्ठान पर विचार कर अब प्रसंगतः "दान" के बारे में भारतीय राजनीति की दृष्टि समझें। "दान" शब्द का अर्थ "देना" है। व्यवहार और शास्त्र दोनों में यह एक ही अर्थ में ग्रहीत है। जब तक सरोवर में जल रहता है, तब तक वहाँ पक्षियों का कलरव भी गुंजित रहता है। जब तक गौ दुग्ध देती है तब तक बछड़ा उसे घेरे रहता है। इसी प्रकार जब तक शासन कल्पवृक्षवत् जनमनोरथ पूर्ण करता रहता है, तभी तक उसके आदेश और उसकी सेवा भी चलती है। इस संबंध में **"जनो दातरि रज्यते"** यह कामन्दक का वचन और **"दानेन द्विषन्तो मित्राणि भवंति"** यह श्रुति यथार्थ है, जिसका मतलब है जनता देनेवाले से ही प्रसन्न रहती है और विरोधी भी वश में होता है। कल्पवृक्षवत् दान में निरत शासन के ही प्रति जनता में देवत्व की बुद्धि जागृत हो सकती है। जो मीठी बात (साम प्रयोग) बोलते और आदरपूर्वक दान करते हैं, वे मानव शरीरधारी देवता वन्दनीय होते ही हैं। कामन्दकः कहते हैं—

"ये प्रियाणि च भाषन्ते प्रयच्छन्ति च सत्कृतम् ।
श्रीमन्तो वन्द्यचरणा देवास्ते नरविग्रहाः ॥"

साम के समान ही दान के भी पाँच भेद कहे हैं। नीतिसार में कहा है :—

"यः संप्राप्तधनोत्सर्गः उत्तमाधममध्यमः ।
प्रतिदानं तथा तस्य गृहीतस्यानुमोदनम् ॥
द्रव्यदानं अपूर्वं च स्वयंग्राहप्रवर्तनम् ।
देयस्य प्रतिमोक्षश्च दानं पंचविधं स्मृतम्" ॥

अर्थात्, (१) जो वस्तु जिसकी हो उसे लौटा देना, जैसे, श्रीकृष्ण ने बलराम को स्यमन्तक मणि लौटा दी। (२) हमारी वस्तु का यदि दूसरा कोई उपयोग करता हो तो उसका अनुमोदन करना। जैसे, सीता का पता लगाकर लौटा कपिदल बिना सुग्रीव की आज्ञा के ही मधुवन के फल खाने लगा और यह संवाद मिलने पर सुग्रीव ने भी इसका अनुमोदन कर दिया। (३) ईश्वर प्रीत्यर्थ दान करना, जैसे, बलि और कर्ण आदि ने दान दिये। (४) अपने सामने किसी को तीसरे का

माल लेते देख उसमें विरोध न कर यथाशक्ति मदद देना। यथा, सेनानायक सैनिकों को शत्रु का नगर लूटने देता है, किन्तु वहाँ की जनता की शिकायत पर उसे आश्वासन देकर भी अपने सैनिकों को डाँटता नहीं। (५) ऋणी जन का ऋण माफ कर देना।

दान के इन पाँच भेदों का भी उपयोग साम के साथ किये जाने पर राज्य में फूट की आशंका मिटकर शान्ति एवं ऐक्य का मार्ग निष्कंटक बनता है। ईश्वर प्रीत्यर्थ दान की व्यवस्था भारतीय राजनीति की विशेषता है। इससे भूकंप, अवर्षण, जलप्रलय, महामारी आदि जैसे प्राकृतिक विक्षोभों की संभावना मिटती है। वैसे प्राकृतिक कोपों से बचने का कोई भी प्रत्यक्ष उपाय पाश्चात्य नीति अभी तक खोज नहीं पायी है। चरक आदि में ऐसे प्रकृति विक्षोभों के कारण और निवारण के संबंध में कही बातों से इसकी पुष्टि भी मिलती है। प्रकृति विक्षोभों से बचाव के लिए ही कामन्दक ने भी देवता, मन्दिर आदि की वृत्तियाँ बंद न करने का शासन को निर्देश किया है :—

"काले स्थाने च पात्रे च न हि वृत्तिं विलोपयेत्।
एतद्वृत्तिविलोपेन राजा भवति गर्हितः॥"

इतिहासों में भी देखा गया है कि दान द्वारा झगड़े दूर रखने की प्रथा चलती थी। पूर्वकाल में राजा वृषपर्वा दानव और दैत्यगुरु शुक्राचार्य में विवाद खड़ा हो गया था। यह विवाद मिटाने के लिए राजा ने शुक्राचार्य से कहा कि आप जो माँगें वह दिया जा सकता है। तब शुक्राचार्य ने अपनी कन्या देवयानी की सेवा के लिए राजा की कन्या माँगी और इसी शर्त पर उस राज्य में निवास स्वीकार किया। राजा ने कन्या देकर यह टण्टा मिटाया। राजा वृषपर्वा की इस बुद्धिमत्ता की प्रशंसा सभी नीतिज्ञ करते हैं। इसके विपरीत, नीतिज्ञजन, ५ गाँव भी पाण्डवों को न देकर टंटे द्वारा सर्वनाश करनेवाले दुर्योधन की निन्दा ही करते हैं। इन्हीं दोनों प्रसंगों का कामन्दक ने निम्नलिखित श्लोक में उद्धरण किया है—

"दारुणं विग्रहं विद्वान् दानेन प्रशमन्नयेत्।
अपराधेन दुहितुः कुपिते भृगुनन्दने॥

वृषपर्वा च दानेन दानवेन्द्रो भवत्सुखी ।
उपच्छन्द्यापि दातव्यं बलिने शान्तिमिच्छता ।
समूलमेव गांधारिरप्रयच्छन् गतः क्षयम् ।"

अब भेद और दंड इन दोनों अनुष्ठानों पर विचार करें। व्यवहार में 'भेद' शब्द का अर्थ 'आपस के ऐक्य का विच्छेद' कहा जाता है। ऐक्य विच्छेद ही कलह है। राज्य कितना भी विस्तृत और शक्तिशाली क्यों न हो, शत्रु घुइस की तरह भीतर घुसकर भेद डालने का प्रयत्न करता है। शत्रु की ऐसी चाल न समझ पाने से आपस में फूट और वैमनस्य फैलता है। इस प्रकार, शक्ति का ह्रास होकर शत्रु का गुलाम बनने की नौबत आ जाती है। इस भेद नीति के तीन प्रकार कहे हैं :—

"स्नेहरागापनयनं संघर्षोत्पादनं तथा ।
संतर्जनं च भेदज्ञैः भेदस्तु त्रिविधः स्मृतः ॥"

अर्थात्, (१) स्नेह और राग को नष्ट करना, (२) आपस में संघर्ष उत्पन्न करना और (३) दूसरे को डरा देना। भेद नीति के इन तीन प्रकारों के बारे में चाणक्य और कामन्दक में कुछ मतभेद जान पड़ता है। कामन्दक के कहे उपर्युक्त तीन प्रकारों के स्थान पर चाणक्य केवल (१) शंका खड़ी कर देना और (२) दूसरे को डरा देना, यह दो ही प्रकार स्वीकार करते हैं। प्रथम इस मतभेद का निराकरण आवश्यक है। कामन्दक ने (१) स्नेह और राग नष्ट करने एवं (२) आपस में संघर्ष उत्पन्न करने को जो दो बातों का रूप देकर रखा है, वे शंका द्वारा ही संभव होती हैं। चाणक्य ने इन दोनों बातों का पृथकशः नाम न लेकर उनके मूल कारण शंका को ही ग्रहण किया है। इसलिए वास्तव में, उक्त दोनों आचार्यों के विचारों में कोई मतभेद लक्षित नहीं होता।

भेदनीति के इस अनुष्ठान में शंका के सूत्र से स्नेह और राग नष्ट करने, मान अपमान की भावना जगाने, स्पर्धा खड़ी करने और संघर्ष का बीज बोने में सहायता मिलती है। शंका रूपी विष राज्य को चौपट करने में अति भयंकर माना गया है। इसी शंका नीति का सहारा लेकर पाश्चात्यों ने भारत को आज रसातल

का मार्ग दिखलाया। अति प्राचीन काल से अपने गुणोत्कर्ष विधायक मार्ग द्वारा परस्पर प्रियतापूर्वक उन्नति के शिखर पर पहुँचकर भी भारतीय आज आपस के झगड़ों में फँस गये हैं। इसका कारण यही है कि पाश्चात्यों ने अपने विषैले विचारों के प्रचार द्वारा भारतीय के हृदयों में संदेह का बीज बो दिया है। स्थिर संधि के मूल वेद-शास्त्रों के अध्ययन के ही प्रति यह शंका खड़ी कर दी है कि उससे जीवन चौपट होनेवाला है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जिस शंका ने लोगों के हृदय हृदय में स्थान पा लिया है, उसे निराधार कैसे माना जाय ? इस पर, कहना होगा कि पूर्वकथित प्रसंगों पर दृष्टि डालने से इसका स्वतः समाधान हो जायगा। यह धारणा सर्वथा निर्मूल है कि वैदिक आदेशों का संबंध केवल पारलौकिक उत्कर्ष साधन से ही है। वस्तुतः वैदिक आदेशों का संपूर्ण लक्ष्य सुनिश्चित लौकिक उत्कर्ष को लेकर ही पारलौकिक श्रेय संपादन के लिए उन्मुख है। लौकिक उत्कर्षों के प्रयत्न यदि आज विफल हो रहे हैं अथवा किंचित् सफलताओं के साथ ही दूसरी ओर नाना अशान्ति मूलक विघ्नों की जो सृष्टि खड़ी हो रही है, उसका मूल कारण यह है कि हमने लौकिक उत्कर्ष के सुनिश्चित मार्ग वैदिक आदेशों की उपेक्षा कर रखी है। इस बात का कोई प्रमाण अद्यावधि इतिहासों में कहीं भी खोज पाना असंभव है कि विश्व-कल्याण परायण वैदिक आदेशों का अनुगामी एक भी सेवक कहीं भूखा मर गया। ऐसी स्थिति में, विधि अनुरूप वेदाध्ययन के प्रति जीवन यापन की शंका बाँध बैठना कहाँ तक उचित है, इसका विचार विवेकी स्वयं कर लें। भारतीय आदर्श तो दृढ़ विश्वास के साथ कर्तव्यों के महत्व पर उस कक्षा तक पहुँचा है जहाँ जीवन यापन की चिन्ता पातक के तुल्य उपेक्ष्य होती है, जिसका चित्रण निम्नलिखित श्लोक में मिलता है :—

"का चिंता मम जीवने यदि हरिर्विश्वंभरो गीयते।
नो चेदर्भकजीवनाय जननीस्तन्यं कथं निस्सरेत्" ॥

(अर्थात्, जीवन निर्वाह की हमें चिंता क्यों हो जब भगवान् स्वयं ही विश्वंभर कहलाते हैं। यदि उनकी विश्वंभरता सत्य न होती तो गर्भ से

बालक के निकलने के साथ ही माता के स्तन से दुग्ध-धारा का प्रवाह कैसे संभव होता ?)

इस विश्वास का मतलब निष्क्रियता में नहीं, वरन् उस दृढ़ सेवा भावना की निष्ठा में है, जिसके परिणाम स्वरूप लोकानुराग प्राप्त होने ही वाला है। अपनी विचारधारा ऐसी तर्कसंगत होते हुए भी जनता यदि शंकाओं के चंगुल में फँस सकी तो इसका एकमात्र कारण तर्कनाशवित के प्रचार का अभाव ही कहा जायगा। शंका उन्हीं को अपना सहज शिकार बना पाती है जो दुर्बल मन के हों। भाव प्रकाशन में कहा भी है :—

"शंका संदेहरूपा स्यात् स्त्रीनीचप्रकृतिश्रिता।" शंका के घर करते ही स्नेह घटता है और क्रमशः भक्ति (राग) का ह्रास होने लगता है। यहाँ स्नेह और राग का रूप समझ लेने से बात अधिक स्पष्ट हो जायगी। स्नेह का मतलब यह है कि किसी वस्तु के प्रथम दर्शन में ही सुख की अनुभूति हो और अन्तःकरण में यह भावना आ जाय कि इससे मेल-मिलाप सुखकर होगा। इसी भावना का नाम स्नेह है। यही स्नेह प्रगाढ़ होकर 'रति' संज्ञा से बोधित होता है। स्नेह की शोभा प्रौढ़ होने पर ही विकसित होती है। स्नेह के प्रौढ़ावस्था की पहचान यह है कि स्नेही के वियोग में महान् कष्ट, यहाँ तक कि प्राणहानि तक, आशंकित होता है। भाव-प्रकाशन में इस बारे में कहा है :—

"विदेशस्थे मृते वापि दुर्बले प्रतियोगिनि।
धर्मिणः क्लेशकारी यः स प्रौढः स्नेह उच्यते" ॥

ऐसे प्रौढ़ स्नेह में परस्पर भय अथवा अनिष्ट की आशंका नहीं रहती। इसीलिए ऐसी निःशंकता ही उसका प्राण कहलाती है। "भयशंकावसानात्मा स एव स्नेह उच्यते"। (भावप्रकाशन)

ऐसे प्रौढ़ स्नेह के द्वितीय चरण का नाम राग है। इस अवस्था में केवल सुख ही सुख दीख पड़ता है, दुःख का नाम भी नहीं रहता। दो हृदयों की ऐसी एकात्मता में शीतलता का आभास होता है। ऐसे प्रेमपाश के बन्धन से जब ईश्वर भी छूट नहीं पाता तब मनुष्य के अलग हो सकने की बात ही कहाँ ? भावप्रकाशन-कार का इस पर कहना है कि—

"सुखदुःखात्मकं भोग्यं सुखत्वेनाभिमन्यते ।
येन रागः स इत्युक्तो रंजनाद्विषयात्मनोः" ॥

ऐसे प्रेम के बन्धन में जब उभय प्रेमियों के बीच शारीरिक पार्थक्य का भाव भी भूल जाय तो उसे "अनुराग" कहते हैं । "रागोऽनुवृत्तोऽविच्छिन्नोऽनुराग उदाहृतः" । (भावप्रकाशन)

स्नेह, राग और अनुराग के इन प्रकरणों को एक उदाहरण द्वारा भी देखें । अपने शरीर पर प्रत्येक प्राणी को प्रेम होता है । इतना ही नहीं, वह प्रेम में यहाँ तक समझने लगता है कि मैं ही शरीर हूँ । अपने को अपने शरीर से किसी प्रकार की शंका या भय नहीं होता । अपने शरीर के लिए सभी प्रकार का कष्ट झेलने में भी सुख ही जान पड़ता है । यही प्रेमियों के बीच की वह अवस्था है, जिसका मूल अनुराग कहा जाता है । ऐसे अनुराग को तोड़ने के लिएं शत्रु शंकारूप शस्त्र का राष्ट्र पर प्रयोग करता है । शंका ने हृदय में स्थान किया कि शत्रु का काम बना । इसीलिए कहा गया है कि अनुराग से जनता को शासन अनुप्राणित रखे और जनता की आर्थिक समृद्धि में लगा रहे । इस बारे में निम्नलिखित श्लोक में :—

"जितेन्द्रियत्वं विनयस्य लक्षणं,
गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणाधिके पुंसि जनोनुरज्यते,
जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः" ॥

उपर्युक्त अभिप्राय गूढ़ रूप से निहित है । इसमें कहा गया है कि शास्त्र-मर्यादा को समझकर उसका अनुष्ठान करना यही विनय (सत्व) है । इस विनय द्वारा राज्य को अनुकूल रखनेवाले गुण शासन में बने रह सकते हैं । जन विश्वास का यही मूल हेतु सिद्ध होगा । यह जन विश्वास शासन से उत्तरोत्तर पुष्टि पाता रहेगा तथा अनुराग का वह स्तर पा लेगा जिसमें शासन और जनता के बीच भय-शंकारहित एकात्मता बन पड़ेगी । शासन को जहाँ जनता का ऐसा अनुराग प्राप्त हो, वह राज्य समृद्धि का गढ़ बने बिना रह नहीं सकता ।

ऐसी एकात्मता के बीच यदि शासन जनता की तर्कनाशक्ति की नींव पक्की जमा डालने में सावधान न रहा तो शंकाओं का विष संचरित करने में शत्रु सफलता पा लेगा, जिससे भेद उत्पन्न होकर ईर्ष्या की सृष्टि होगी और कर्तव्यमूलक सेवा का भाव क्षीण होने लगेगा। ऊँच-नीच के भाव द्वारा परस्पर अपमानास्पद व्यवहार चल पड़ेंगे और शासन घोर पराभव को प्राप्त होगा।

अब भेद नीति के द्वितीय प्रकार "डरा देने" के अनुष्ठान पर विचार करें। इसके लिए, धन आदि का प्रलोभन देकर शत्रु पहले प्रजा में से लालची लोगों को वश में करता है और फिर उसे भय दिखलाकर दूसरे पक्ष से पूर्णतः फोड़ लेता है। इस प्रकार, भारतीय राजनीति ने साधक और बाधक दोनों प्रकार की बातें खोल दी हैं। इन बातों पर ध्यान न देकर हम शत्रु की भेद नीति के शिकार बनते चले जायँ तो इसमें दूसरे की अपेक्षा दोष अपना ही है। आवश्यकता है कि नीतिज्ञजन की दृष्टि भारतीय राजनीति की ओर आकृष्ट हो।

अब साम, दान और भेद इन तीन के विचार के अनन्तर चौथी नीति "दण्ड" के संबंध में भारतीय राजनीति का महत्व देखें। यह पहले ही कह आये हैं कि दण्ड प्रायश्चित्त रूप में प्रयुक्त होने पर उद्वेग' कारक न होगा। प्रायश्चित्त रूप दण्ड के (१) वध, (२) द्रव्यापहरण और (३) क्लेश यह तीन भेद कहे हैं। जैसा कि कामंदक का कथन है।

"वधोर्थहरणं चैव परिक्लेशस्तथैव च।
इति दण्डविभागज्ञैर्दण्डस्तु त्रिविधः स्मृतः ॥"

दंड का प्रसंग तभी आता है जब स्वेच्छाचारपूर्वक कोई व्यक्ति किसी को कष्ट पहुँचाने में प्रवृत्त हो। शासन का मुख्य कर्त्तव्य यहीं प्राप्त होता है। दुष्टों के ऐसे आचरणों की उपेक्षा करनेवाला शासन प्रजा-पालन-रूप स्वधर्म से च्युत होता है और लौकिक पारलौकिक दोनों तरफ का कुत्साभागी होता है। यह सत्य है कि दण्ड दिये जाने पर पीड़ा दुष्ट को तो होगी ही, पर ऐसे को पीड़ा पहुँचाना ही धर्म है। धर्म वही है, जिसका अनुमोदन नीति-कुशल संत जन करें। भारतीय राजनीति इसी को लेकर धर्म की व्याख्या करती है।

"यं आर्याः क्रियमाणं हि शंसन्त्यागमवेदिनः ।
स धर्मो, यं विगर्हन्ति तमधर्मं प्रचक्षते" ॥ (कामंदक)

यह व्याख्या केवल भारतीय राजनीति को ही नहीं, धर्मशास्त्र को भी स म्मत है ।

यदि नीति कुशल संत जन की सहमति प्राप्त होती हो तो विचाराधीन अपराधी को प्राणदंड दिया जाय। यदि वे इस पर सहमत न हों तो प्राजापत्यादि प्रायश्चित्तों से ही उसकी शुद्धि की जाय। यदि किसी दुष्ट विशेष को दंड देने से संपूर्ण राष्ट्र का कल्याण होता हो तो उसको दिया गया दण्ड शिष्ट सम्मत होकर धर्मरूप होगा !

इसी प्रकार, जाति मर्यादा का उल्लंघन करनेवाला व्यक्ति जाति द्वारा दंडित होता है और उस दंड को भारतीय राजनीति ने विशेषरूप से मान्य किया है। ऐसी मान्यता में हेतु क्या है, इस पर पूर्व विवेचन में कहा ही जा चुका है। जिस प्रकार शरीर के दूषित अंग का छेदन स्वयं को आवश्यक हो जाता है, उसी प्रकार सदाचारहीन व्यक्ति को जाति यदि दूर कर अपने सामाजिक सौष्ठव की रक्षा करती है तो वह ठीक ही है। सदाचारहीन व्यक्ति संसर्गतः जाति को दूषित कर गुणोत्कर्ष में बाधक बनेगा, इसी दृष्टि से धर्मशास्त्र भी इससे पतितों की संगति का निषेध करता है।

"ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महांति पातकान्याहुः यश्च तैस्सह संवसेत्" ।

(अर्थात्, ब्रह्म-हत्याकारी, शराबी, चोर और गुरु-पत्नी के साथ व्यभिचार करनेवाला यह चार कोटियाँ महान् पातकियों की हैं। पाँचवाँ महान् पातकी वह होता है जो इनके साथ रहता है।)

ऐसे पातकियों को शासक या समाज दंडित करे, इसकी अपेक्षा जाति द्वारा, ही उनका दंड समीचीन और सुगम है। आयुर्वेद भी ऐसे पातकियों को दवा तक न देने का आदेश देता है। घर में हिंसक पशु या सर्प आदि जन्तु का रहना जैसे खतरनाक है, वैसे ही यदि ऐसे पातकी भी जाति में रहें तो जाति के लपेट में

समाज एवं राष्ट्र की भी हानि आशंकित है। श्रीकृष्ण ब्रह्मण्यदेव ही थे। पर, ब्राह्मण अश्वत्थामा द्वारा सुप्त पाण्डव पुत्रों के वध जैसे निन्द्य कर्म पर उन्हें उसे अर्जुन द्वारा दण्ड दिलाना आवश्यक ही हो गया। यह इतिहास ऐसे दण्ड के प्रसंग में ध्यान में रखने योग्य है। ऐसे दण्ड पर जनता में क्षोभ भी नहीं होता, प्रत्युत वह प्रसन्न होती है। साँप या बिच्छू के वध पर सज्जन उसका समर्थन ही करते हैं। कहा भी है—"मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या"।

जो व्यक्ति अत्यन्त नीच कर्म कर बैठता है वह दंड का पात्र ही है पर कतिपय दुष्टकर्मा व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो गुप्त रूप से अपराध करते हैं और जिन्हें प्रकट रूप से दण्ड देना शासन के लिए अशक्य होता है। उसके दुष्ट कर्म की उपेक्षा करना भी उपयुक्त नहीं ठहरता। कारण, देश के लिए कण्टकरूप वह व्यक्ति सतत हानि करता ही रहता है। कामंदक का मत है कि लोक-मर्यादा की रक्षा की दृष्टि से देश की अर्थ-समृद्धि में चूकना न चाहिये और जो भी इस मार्ग के बाधक हों उनका निग्रह (दण्ड) करना ही चाहिये। धर्मसंरक्षणपरो धर्मायार्थं विवर्धयन्॥ ये ये प्रजाः प्रबाधेरंस्तां स्तांच्छिन्ध्यान्महीपतिः।" अतएव ऐसे दुष्टों के प्रति गुप्त दण्ड की दृष्टि से विष आदि का प्रयोग करना बतलाया गया है। कारण, इनके अपराध प्रकट रूप के न होने के कारण प्रकट दण्ड से जनक्षोभ की आशंका रहती है। इस रीति से दण्ड के दो रूप सामने आते हैं। जिनमें एक को प्रकट दण्ड और दूसरे को अप्रकट दण्ड कह सकते हैं। कहा भी है—"प्रकाशश्चाप्रकाशश्च द्विविधो वध उच्यते"। (नीतिसार)

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रकट दंड का पात्र रौद्र प्रकृति का ही मनुष्य होता है। कारण, उसके अपराध प्रकट रूप के और ऐसे होते हैं, जिनसे वह लोगों की आँखों में गड़ा रहता है। लोगों का अपमान करना, मिथ्या भाषण करना, हत्या की प्रवृत्ति, विद्या और सदाचार की निन्दा, बलात् संपत्ति हरण आदि उसके कार्य होते हैं। भाव प्रकाशन में ऐसे प्रकृति के मनुष्य का स्वभाव निम्नलिखित वर्णित है—

"रौद्रस्तस्यानृतं वाक्यं अवज्ञापरुषोक्तयः।
वधान्यदारलाभादिप्रतिज्ञा राष्ट्रभञ्जनम्॥

हठाद्ग्राहो गृहक्षेत्रदारादीनां च मत्सरः ।
देशजातिकुलाचारविद्याशौर्यादिनिन्दनम् ॥
आक्रोशकलहाक्षेपवाक्याज्ञाभञ्जनादयः ।"

ऐसे व्यक्तियों को दबा पाने में विकीर्ण जनता समर्थ नहीं होती। इसीलिए जनता की समवेत शक्ति का पुंज शासन में केन्द्रित किया जाता है। ऐसे रौद्र प्रकृतिवालों के विपरीत, गुप्त अपराध करनेवाले व्यक्ति, गुप्त दण्ड के पात्र होते हैं। ऐसे गुप्त दंड को "उपांशु दण्ड" भी कहा जाता है। पूर्वकालीन इतिहास में भी शम्बुक और कालनेमि जैसे गुप्त अपराधियों का वर्णन आया ही है, जो प्रकट रूप से अपराधी न होते हुए भी अपने कर्त्तव्य रूप देश-सेवा से विमुख होने के कारण नीति की दृष्टि में गहन गुप्त अपराधी थे।

गुप्त अथवा प्रकट इन दोनों ही प्रकार के दण्डों के प्रसंग में अपराधियों का निम्नलिखित प्रकार वर्गीकरण किया गया है—

"आयुक्तकेभ्यः चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात् ।
पृथ्वीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम्" ॥

(नीतिसार)

अर्थात् (१) अधिकारी वर्ग, (२) चोर, (३) शत्रु, (४) शासकों के संबंधी, और (५) लोभी सामन्त इन पांच से ही जनता को संकट रहता है। अपराधियों के दंड कार्य में शासन को यदि झूठ का भी आश्रय लेना पड़े तो उस नीतिज्ञों ने धर्म-संरक्षण की दृष्टि से उचित ही माना है। गौतम मुनि का भी कहना है।

"तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे
बीजप्ररोहणसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ।
ताभ्यां विगृह्य कथनम् ॥"

इसका मतलब यह है कि मन पर मद और मान की छाप रहने से मनुष्य को यथार्थ बात समझ में नहीं आती। यह स्वभाव सिद्ध है कि मद में चूर मनुष्य

वेदतुल्य सम्माननीय गुरुजनों और सुहृद्जनों का अपमान करने लगता है। भले-बुरे का विचार उसे नहीं रह जाता। उसे कोई शान्तिपूर्वक (सामोपचार से) समझाने का प्रयत्न करे तो उसके मद में दूनी उफान-सी आती है और न्यायपथ से वह दूर ही रहता है। ऐसी स्थिति में, शासन या तत्वज्ञों को उसका गर्व भंग करना आवश्यक हो जाता है। गौतम का कहना है कि मदोन्मत्त को पराजित करने में न्यायपक्ष (वादी या विजिगीषु) को यदि जल्प या वितंडा का भी आश्रय लेना पड़े तो वह ग्राह्य है। कारण, इससे तत्त्वसंरक्षण होनेवाला है। **"न विगृह्य कथां कुर्यात्"** के द्वारा छल का आश्रय न लेने की जो बात कही गयी है वह केवल वादपद्धति के शास्त्रार्थ में ही लागू है। कारण, सज्जन गर्वशून्य होता है और वहाँ मदोन्मत्त का मान भंग करना प्रयोजन प्राप्त नहीं रहता। इसी आधार पर, शासन को प्रजापालनार्थ यदि मदोन्मत्त दुष्टों के दमन में झूठ आदि उपायों का अवलंबन आवश्यक हो तो वह भी लौकिक-पारलौकिक दृष्टि से बाधक नहीं। प्रत्युत, ऐसा न करने की दशा में ही लौकिक-पारलौकिक दोष कहा गया है। मनुस्मृति का वचन है—

> "अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
> अयशो महदाप्नोति नरकं चैव दारुणम् ॥

इसी नीति (उपांशु दंड) का अनुसरण कर इन्द्र ने पहले वृत्रासुर से अयुद्ध संधि की और वाद में मौका पाकर, उसका वध ही कर डाला। इन्द्र के ऐसे कार्य की व्यापक सराहना भी हुई। शासन के लिए यहाँ ध्यान में रखने की एक ही बात है कि वह अपने ईर्ष्या-द्वेषवश उपांशु दण्ड प्रयोग निरपराध व्यक्ति पर न करे। विकीर्ण शक्तिवाली निर्बल जनता को अपनी रक्षा के लिए सबल शासन संघटित करने का जो नीतिमार्ग बतलाया गया है, उसका यह अर्थ नहीं है कि शासन जनता के लिए बाधक बने। ऊपर से शिष्ट बने रहकर गुप्त रूप से अपराध करनेवालों के लिए जिस प्रकार उपांशु दण्ड का उपयोग शासन कर सकता है, उसी प्रकार इस उपांशु दंड का उपयोग व्यक्ति के भी हाथों में है। इसी बल और व्यवस्था के सहारे दुर्बल जनता के हाथों में भी शासन की नकेल भारतीय राजनीति

ने दे रखी है और इतिहास साक्षी है कि नीति के आचार्य स्वयं चाणक्य को उपांशु दंड का प्रयोग सम्राट् नंद पर करना अनिवार्य हो गया था। फिर भी, उपांशु दंड के बारे में भारतीय राजनीति का मत है कि जहाँ तक हो सके गुप्त अपराधी के अपराध प्रकाश में लाकर प्रकाश्यरूप से दंड देना ही श्रेयस्कर है।

इसमें भी, वैसे गुप्त अपराधी को किसी अन्य के हाथों दंड मिलने की संभावना का निश्चित संवाद यदि शासन को प्राप्त हो, तो वैसे दंड-कार्य में अपनी आँख उधर से फेर लेना ही समुचित नीति कही है। कीचक का इतिहास इस बारे में देखने ही योग्य है। विराट् का साला कीचक शक्तिशाली होने के कारण विराट् के लिए सिर दर्द बन गया था। सैरंध्री नाम धारण कर विराट् की नौकरी में साल भरके लिए आयी महासती द्रौपदी पर उसकी कुदृष्टि गयी। सैरंध्री ने प्रसिद्ध कर रखा था कि मेरे पाँच गंधर्व पति गुप्त रूप से मेरी रक्षा करते हैं। इतने पर भी कीचक ने उसका पीछा न छोड़ा। सैरंध्री ने इस बात की शिकायत विराट् के पास पहुँचायी; पर, विराट् ने इस बात की उपेक्षा की, और इस प्रकार कीचक का हौसला बढ़ता ही गया। फलतः, गंधर्व के व्याज से भीम के हाथों उसे मरना ही पड़ा। इससे यह प्रकट होता है कि कीचक के मामले में विराट् की दशा साँप-छछूंदर सी थी। न वह कीचक को हटा सकता था और न उसे रखना ही अभीष्ट था। इसलिए उसने स्वयं उपांशु दंड का प्रयोग न कर द्रौपदी की शिकायत की उपेक्षा में ही उसने अपनी कार्य सिद्धि देखी। उसे द्रौपदी के वचनों से दृढ़ निश्चय हो गया था कि गंधर्व इस कीचक का प्राण लिये विना न छोड़ेगा। किन्हीं लोगों का ऐसा मत है कि विराट् ने द्रौपदी की शिकायत की जो उपेक्षा की यह उसकी गलती थी। पर, ऐसे आक्षेपकर्ताओं को यहाँ ध्यान में लेने की बात यह है कि विराट् की उक्त उपेक्षा नीतिमूलक अर्थात् कीचक के प्रति दण्डात्मक ही थी। विराट् ने स्वयं उपेक्षा दिखाकर भीम के हाथों उसकी सुनिश्चित मृत्यु का दरवाजा ही खोला था, जिससे, विना लाठी टूटे ही साँप मर गया। नीति मार्ग के समाश्रयण से इस प्रकार विराट् स्वयं कंटक मुक्त हो गया और साले के वध के लोकापवाद से भी बचा। नीति के प्रयोगों में कामंदक ने "उपेक्षा" को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका कहना है—

"साम, दानं च भेदश्च दंडश्चेति चतुष्टयम् ।
मायोपेक्षेन्द्रजालं च सप्तोपायाः प्रकीर्तिताः" ॥

सत्वप्रधान वीर के हाथों बायें हाथ के खेल के रूप में प्रयुक्त होनेवाले साम आदि के यह नैतिक प्रयोग महत्वपूर्ण हैं। इन नीतियों में दैवी संपत्तिवाले लोग "उपेक्षात्मक" उपाय का प्रयोग आमतौर पर करते हैं। शरद् पूर्णिमा के चन्द्र की भाँति मानव समाज को आनन्द की अमृत किरण में आप्लावित करते रहनेवाले सन्तों के प्रति ईर्ष्याभाव रखकर दुष्टजन प्रकृत्या ही निन्दा किया करते हैं। पर, योगियों के सिद्धान्त के अनुसार सन्तजन उनके विरुद्ध अपने क्षमा (उपेक्षा) व्रत से ही काम लेते हैं। इससे दुष्टजन सन्त को कमजोर समझ अधिकाधिक सताने लगते हैं। पर, सन्त की वैसी उपेक्षा ही कोई न कोई ऐसा व्यक्ति अथवा घटना-क्रम उपस्थित कर देती है, जिसमें दुष्ट की पूरी नसीहत हो जाती है। दुष्टता से संतों के सिवा, इतर लोगों को क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है और वह क्रोध कहीं म्यान के बाहर हो जाय तो बिना घात के शान्त होने का नहीं। म्यान के बाहर क्रोध होने के कारण ही नृसिंह ने हिरण्यकशिपु की अँतड़ियाँ तक निकाल डालीं और उनकी माला बनाकर पहनी। भीम ने दुःशासन का कलेजा चीर कर क्रोधवश रक्त प्राशन् आरम्भ कर दिया था। नृसिंह और भीम के क्रोध की पराकाष्ठा देख क्रमशः लक्ष्मी एवं द्रौपदी भी थर्रा उठी थीं। क्रोध की श्रेणियों के निरूपण में भाव प्रकाशन का कथन है।—

"प्रथमा निंदति गुणान् द्वितीया परुषं वदेत् ।
तन्नाशोपायचिन्तैव तृतीया समुदाहृता ॥
चतुर्थ्यां हननेच्छा स्यात् पंचम्यामायुधग्रहः ।
षष्ठ्यां निहन्ति वेगेन विघ्नैरपि निवारितः ।
सप्तम्यां निहतस्यासृक्पानमान्त्रापकर्षणं ॥"

क्रोध की उपर्युक्त सात अवस्थाओं द्वारा जब दुष्टों के दंड का मार्ग लोक में प्रकृत्या ही खुला पड़ा है तब सन्तों को स्वयं क्षमाव्रत त्याग करने की आवश्यकता क्यों समझ में आये ? जगत में ऐसा भी समय होता है जब सज्जनों का ही बाहुल्य

पाया जाता है। ऐसे समय, सन्तों को ही क्षमाव्रत त्याग कर दुष्टों के विरुद्ध शस्त्र भी उठाना पड़ जाता है। उदाहरणार्थ, त्रेतायुग में दुष्टता पर उतर आये क्षत्रियों के निग्रहार्थ परशुराम को ही शस्त्र उठाना पड़ा था। चारो युगों के भीतर कलियुग ही ऐसा सुन्दर युग है, जिसमें सन्तों को दुष्टों के विरुद्ध शस्त्र उठाने की लेश भी जरूरत नहीं। कारण, यहाँ सन्तों की क्षमा सोलह आने चरितार्थ होने की पृष्ठभूमि चतुर्दिक तैयार है और क्रोध के पुतले ही चारो ओर घूमते रहते हैं।

इस प्रकार, सम्पूर्ण तीनों प्रमाणों का समन्वय कर, लोक-परलोक के विचार-पूर्वक, भारतीय नीति ने साम, दान, भेद और दंड इन चारो उपायों का समुचित व्यवहार बतलाया है। भारतीय राजनीति के बतलाये इन चारो उपायों के अतिरिक्त ऐसी कोई नयी नीति नहीं है, जिसका व्यवहार पाश्चात्य राजनीति में देखा जाय। उसकी अपनी विशेषता इन नीतियों के उलटे सीधे उपयोग मात्र में देखी जाती है।

भारतीय नीति के इस विवेचन में, महत्व की एक और बात अभी रह गयी है। वह यही कि किस नीति का कहाँ पर प्रयोग किया जाय ? भारतीय राजनीति ने इस संबंध में भी जो प्रकाश डाल रखा है, वह यहाँ उसकी छठीं विशेषता के रूप में सामने आयेगा। इससे यह समझ पाने में सुविधा होगी कि आज की स्थिति में सफलता पाने के लिए किस नीति का अवलम्बन किया जाय।

साम आदि के उपयोग की जो चार बातें ऊपर कही जा चुकी हैं उनका समुचित रूप में किया गया उपयोग "अनुलोम उपाय प्रयोग" कहा जाता है। यदि इनका ठीक प्रयोग न बन पड़े तब उसे "प्रतिलोम उपाय प्रयोग" कहते हैं। इस प्रकार, अनुलोम और प्रतिलोम उपाय प्रयोगों के १५,१५ अर्थात् कुल ३० भेद कहे हैं। इसे अधिक स्पष्ट शब्दों में यों समझें कि अधिकार के अनुसार अलग अलग प्रयोग में साम, दान, भेद और दंड यह चार उपयोग हुए। इसी प्रकार, अधिकार के अनुसार, एक-एक व्यक्ति पर (१) साम दान, (२) साम भेद, (३) साम दण्ड, (४) दान, भेद, (५) दान दण्ड और (६) भेद दण्ड ऐसे छः उपयोग और सामने आये। इस प्रकार, उक्त दोनों श्रेणियों को मिलाकर अभी

कुल १० उपयोग हुए। आगे, अधिकारानुसार एक-एक व्यक्ति पर क्रमशः (१) साम, दान, भेद, (२) साम दान दंड, (३) साम भेद दंड और (४) दान दंड भेद ऐसे चार उपयोग और आये। अनन्तर, अधिकारानुसार एक ही व्यक्ति पर साम, दान, भेद और दंड इन चारों का समवेत उपयोग भी प्राप्त होता है। इस प्रकार, अब तक कुल १५ उपयोग भेद सामने आ चुके जो "अनुलोम उपाय प्रयोग" कोटि के हैं। इन्हीं १५ भेदों के ठीक से प्रयोग न सधने की भी १५ कोटियाँ हैं जो "प्रतिलोम उपाय प्रयोग" में गिनी गयी हैं। इनमें कौन-सा प्रयोग कैसे अधिकारी व्यक्ति के प्रति किया जाय, इस सम्बन्ध में कामन्दक का कहना है—

"अलसं विक्रमे श्रान्तं विहतोपायचेष्टितम् ।
क्षयव्ययप्रवासैश्च श्रमेण विपरिद्रुतम् ॥
भीरुं मूर्खं स्त्रियं बालं धार्मिकं दुर्जनं पशुम् ।
मैत्रीप्रधानं कल्याणबुद्धिं सांत्वेन साधयेत्" ॥

(अर्थात्, आलसी, परिश्रम कर थके, प्रयत्नों में विफल हुए, क्षय व्यय प्रवास से ऊबे, डरपोक, अज्ञान, महिला, बालक, धार्मिक, दुर्जन, पशु, मित्र भाव रखनेवाले और सुहृद यह सब ऐसे हैं, जिन्हें साम भाव से वश में किया जा सकता है।)

इसी प्रकार, "लुब्धं क्षीणं च दानेन" के अनुसार लालची और धनहीन को दान से वश में कर सकते हैं। कर्त्तव्य निष्ठ जन आदर और सम्मान की अभिलाषा रखते हैं। अपमान से वे शासन के प्रति उदासीन बन जाते हैं। अतएव, ऐसे लोगों को वश में रखने के लिए साम प्रयोग ही उपयोगी है। लोभी व्यक्ति धन की ही आशा लगाये चिपका रहता है। उसे धन मिले तो वह शत्रु पक्ष से मिलकर शासन के लिए क्षतिकारक सिद्ध हो सकता है। इसलिए, उसे द्रव्य देना ही चाहिये। जिन लोगों ने संघटन बना लिया हो उनके विरुद्ध भेद नीति ही कारगर हो सकती है। इनके नेताओं में कौन क्रोधी है, कौन लोभी है, कौन आतंक पीड़ित है और कौन अपमान प्रताड़ित है इसकी पहले छान-बीनकर बाद उचित रूप की भेद नीति से उसे फोड़ लेना चाहिये। इस प्रयोग पर विशेष प्रकाश

मुद्राराक्षस नाटक में चन्द्रगुप्त और चाणक्य के बीच हुए संवाद से पड़ता है। चतुर्थ उपाय दंड का प्रयोग केवल दुष्टों को ही वश में लाने के लिए किया जाता है। दुष्ट अन्य किसी उपाय से राह पर लाये जा सकते नहीं।

साम और दान इन दोनों का संयुक्त प्रयोग पुत्र आदि बन्धु वर्ग पर उपयोगी होगा। शासन में पदारूढ़ जन इन्हें अपने से कभी पृथक् न होने दें। नीतिसार में भी कहा है—

"आत्मानं प्रथमं राजा विनयेन उपपादयेत् ।
ततोऽमात्यान् ततोभृत्यान् ततः पुत्रान् ततः प्रजाः" ॥

शासक पहले स्वयं विनय एवं गुण-सम्पन्नता का परिचय दे, बाद इसकी छाप अपने परामर्शदाता, कर्मचारियों, पुत्र और प्रजा पर डाले। इससे स्पष्ट है कि शासक के लिए अपने पुत्र को विनीत बनाना उसका आवश्यक कर्त्तव्य है। कारण, वंश और राज्य की समृद्धि में वह कारण होता है और बन्धु-बान्धव जन्म-मरण आदि प्रसंगों में साथ देनेवाले होते हैं। ऐसे लोगों में थोड़े-बहुत लोभ की संभावना मानकर ही इनके लिए साम और दान इन दोनों का संयुक्त उपयोग बतलाया गया है। यदि यह वर्ग कहीं संघटन बाँध बैठा हो तब वैसी दशा में इसके बीच दान और भेद-नीति के प्रयोग से ही काम चलेगा। इस वर्ग के वश में बने रहने पर शासक के लिए भय की बात नहीं रहती है। सामन्तों को और राज्य से विस्थापित जनों को वश में रखने के लिए दंड और भेद का संयुक्त प्रयोग करना चाहिये।

इन प्रसंगों पर पूर्णरीत्या प्रकाश डालने के प्रयत्न में एक स्वतंत्र ग्रंथ की अलग रचना ही आवश्यक हो जायगी। इसलिए केवल संकेत की दृष्टि से इतना कह दिया गया है। सारांश यह कि, प्रसंग और औचित्य को ध्यान में रखकर उक्त प्रयोगों से काम लेना यही वीर की बुद्धिमत्ता है। चिकित्सा ग्रन्थों में यही लिखा रहता है कि अमुक रोग पर अमुक औषधि देना। इसमें चिकित्सक की बुद्धिमानी यही है कि वह ठीक से निदान कर पाये और उसके लिए आवश्यक औषधि चुनकर दे।

विवेचन के इस अंश में यह बात आ गयी कि किस नीति का कहाँ पर प्रयोग किया जाय। अब आगे यह देखें कि आज की स्थिति में सफलता पाने के लिए किस नीति का अवलम्बन अपेक्षित है। इस प्रसंग में यह बात ध्यान में आये बिना रह नहीं सकती कि वर्तमान स्थिति और भविष्य पर समुचित दृष्टि रखनेवाला जागरूक नीतिज्ञ समाज देश सेवा के भाव से विद्या की सेवा में संलग्न है। वह अपने ढंग से साम प्रयोग द्वारा अपने देश के आलस्य आदि विग्रस्त व्यक्तियों को आकृष्ट करने का प्रयत्न चला रहा है। सच्ची विदेशी त्रुटियों की टीका कर भेदनीति का चक्र चलाने में भी वह संलग्न है ही। अनुष्ठानों में बाधक रूप से सामने आनेवाले दुष्ट लोगों के प्रति वह उपेक्षारूप दण्डनीति को अमल में ला ही रहा है। इससे देश में एक सूत्रता आये बिना न रहेगी और जनता का विश्वास भी इस वर्ग के प्रति बढ़ेगा ही। इस प्रकार, मौलिक अर्थों के स्वराज्य की संघटना में समाज के जागरूक् नीतिज्ञ वर्ग की अग्रसरता भारतीय राजनीति के पूर्णतः लक्ष्यानुकूल ही चलती कही जा सकती है। भारतीय राजनीति के ऐसे शुद्ध प्रयोग पर किसी का दो मत हो सकता नहीं। इस मार्ग की पुष्टि में मनु का भी वचन है कि

"सैनापत्यं च राज्यं च दंडनेतृत्वमेव च।
सर्वं लोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति" ॥

(अर्थात्, सेनापतित्व, राज्य, दंड संचालन और सबका शासन समुचित रूप में वेद शास्त्रज्ञ ही कर सकता है।) यहाँ वेद शास्त्रज्ञ का मतलब सत्त्व प्रधान नीतिज्ञ से ही ग्राह्य है। जागरूक नीतिज्ञ वर्ग द्वारा परिचालित उपर्युक्त मार्ग जिस प्रकार प्रत्यक्ष और तर्क से समीचीन है, उसी प्रकार धर्मशास्त्र के रूप में शब्द प्रामाण्य भी उसके साथ है। साम और दंड नीति के बारे में मनु का निम्न-लिखित वचन देखें—

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नाऽनृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशोमहदाप्नोति नरकं चैव दारुणम् ॥
राजभिर्धृतदण्डा ये कृत्वा पापानिमानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥"

यहाँ सत्य के साथ साम प्रयोग की दृष्टि से ही प्रिय बोलने का आदेश किया गया है। प्रियता के साथ ही "सत्य" कहने पर जोर देने का मतलब संत या सज्जनवृत्ति का संकेत है। इसी प्रकार, "दान" के बारे में श्रुति ने "दानेन द्विषंतो मित्राणि भवन्ति तस्मात् दानं परमं वदंति" कहा ही है। "भेद" के संबंध में धर्म-मूलक आचारों से प्रमाण मिलता है। वह यों कि, वेदान्त आदि शास्त्रों की प्रणाली में अपने सिद्धान्त निरूपण से पहले अपर पक्ष के दोषों का व्याख्यान किया जाता है। यही भेद का सूत्रपात है।

यहाँ तक आज की स्थिति के लिए आवश्यक "कर्त्तव्य" पर प्रकाश डालने के अनन्तर यह भी देख लेना आवश्यक है कि उस "कर्त्तव्य" पर देश को आरूढ़ कैसे किया जाय, जिससे देश के सुधार के साथ लक्ष्य साधन सुनिश्चित हो ? कहा जाय तो नीतिज्ञों के समक्ष आज वस्तुतः यही प्रश्न अत्यन्त जटिल रूप धारण कर उपस्थित है।

भारतीय राजनीति ने तीनों प्रकार के प्रमाण साधनों का समन्वय कर कहा है कि

"तत्रायं प्रथमोपायः यत् विद्यावृद्धैस्साधं विद्याचिन्ता,
विद्याप्रतिबद्धत्वाल्लोकस्थितेः"

अर्थात्, सच्चे अर्थों के स्वराज्य स्थापन का सर्वप्रथम मार्ग यह है कि विशिष्ट कोटि के विद्वानों के साथ बैठकर विद्या प्रसार की व्यवस्था संपन्न की जाय। कारण, लोक स्थिति सर्वांश में विद्या पर ही निर्भर होती है।

इस कथन का स्पष्ट तात्पर्य समझने के लिए पहले यह ध्यान में लेना होगा कि विद्या का लोक से संबंध क्या है ? शंकराचार्य जी ने गीता के "नीतिरस्मि

जिगीषतां" वचन की व्याख्या में कहा है कि "विजय के उपायों का प्रकाश नीति ही कराती है।" विजय का मतलब 'अपना उत्कर्ष' है। यह बात भी शंकराचार्य जी ने गीता के **"जयोस्मि व्यवसायोस्मि"** की व्याख्या में कही है। इस प्रकार, नीति से ही यह प्रकट हो पाना सिद्ध है कि किस अंश में "हमारा अपना उत्कर्ष" अर्थात् विजय उपलब्ध हुई। अपने उत्कर्ष का यह फल प्रत्यक्ष सिद्ध है कि जो आदेश किया जाय उसका उल्लंघन न हो और सब उसी का पालन करें। ऐसे आदेशकर्ता श्रेणी के लोगों का ५ वर्ग बतलाया गया है जिसमें (१) धनीवर्ग, (२) बन्धुवर्ग, (३) वृद्धजन, (४) कर्मठ और (५) विद्वान् आते हैं। इन पाँचों में भी आदेशात्मक उत्कर्ष का बल धनिक की अपेक्षा बन्धुवर्ग में, बन्धुवर्ग की अपेक्षा वृद्धजन में, वृद्धजन की अपेक्षा कर्मठ में और कर्मठ की अपेक्षा विद्वान् में अधिक कहा गया है। कारण, धनिक तो संघटित समाज का अनुगामी बन जाता है। बहुजन समाज से तात्पर्य "बन्धुवर्ग" से है। इस बहुजन समाज की स्थिति यह है कि वह अनुभवी वृद्धों का पीछा पकड़ता है। अनुभवी वृद्धजनों की स्थिति ऐसी हुआ करती है कि स्वयं उनसे काम बन पड़ता नहीं और वे कर्मठों की तलाश के लिए विवश हैं। इन कर्मठों को, खासकर अड़चनों के मौके पर, विद्वानों का आश्रय लेने के सिवा दूसरा चारा नहीं। इस प्रकार, अपने पूर्ण उत्कर्ष अर्थात् विजय के स्थापनार्थ व्यावहारिक नेतृत्व का भार विद्वान के ही हाथों में निर्भर होता है। इसलिए, सच्चे अर्थ के स्वराज्य अथवा विजय की स्थापना के लिए राष्ट्र की प्रकृति के अनुकूल विद्या पारंगत देशसेवी विद्वानों का मण्डल बड़े से बड़े परिमाण में मूलतः अपेक्षित है।

इस विद्याबल की संघटना के समकक्ष ही राजनीति के बहुविध कार्यों में "सच्ची मैत्री" का भी स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। कारण, अकेला आदमी सारे कार्य नहीं कर सकता। मैत्री की यह आदर्श परम्परा है कि एक मित्र अपने दूसरे मित्र के हितार्थ प्राण होम देने तक को तैयार रहता है। कामंदक का कहना है कि

> "संस्तंभयति मित्राणि, ह्यमित्रं नाशयत्यपि।
> भूकोषदंडैर्व्रजति प्राणैरप्युपकारिताम् ॥"

मित्र अकार्यों से बचाकर शत्रुओं का विनाश करता है और अपनी भूमि, कोष, सैन्य एवं प्राणों तक की आहुति देकर उपकार में लगा रहता है। ऐसे मित्र प्राप्त करने में सत्त्व और विद्या बहुत सहायता पहुँचाती है। कारण, यही विश्वास की भूमिका बाँधती है। सच्चा मित्र मिल जाने पर अपेक्षित अन्य समस्त साधन सहज ही जुट जाते हैं। जिसकी विश्वास भूमिका बँध गयी वही आवश्यकतानुकूल यथेच्छ संचय कर पाता है। इसी को कामन्दक ने अपने **"यस्मिन् विश्वासमायाति विभूतेः पात्रमेव सः"** शब्दों में कहा है। चाणक्य ने भी अर्थ की व्याख्या के प्रसंग में विद्या और मित्र को पकड़ा है। इसमें भी विद्या को प्रधान स्थान देकर मित्र को पीछे से इसलिए घेरा है कारण साधन समुच्चय में वही सहायक होनेवाला है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है **"विद्या, भूमि, हिरण्य, पशु, धान्य, भाण्डोपस्कर, मित्रादीनामर्जनं, अर्जितस्य विवर्धनम् अर्थः।"**

इसलिए, कहना होगा कि देश को कर्त्तव्य पर आरूढ़ करने के लिए राष्ट्र की प्रकृति के अनुकूल विद्या के यथावत प्रचार पर जोर दिया जाय। यथावत प्रचार का मतलब यह है कि देश के भीतर विद्यार्थियों क चित्त में विलासिता और मान की भावना न छू जाय वरन् वे राष्ट्र की सेवा के भाव से विद्या साधना में लगे रहें। इस दृष्टि से, पाश्चात्य प्रणाली पर चलती वर्तमान शिक्षा अत्यन्त नीति विरुद्ध है। कारण, विलासिता, उच्छृंखलता, ज्ञानहीनता, अभिमान आदि ऐसे कौन से दुर्गुण बच रहे हैं जिनका बीज वहाँ न बोया जाता हो। छात्रों में उत्पन्न होने वाली विनयहीनता से तो सत्त्व की जड़ ही कट जाती है। विलासिता का स्वभाव "कर्त्तव्य" के प्रति उन्हें अन्धा बना देता है। विलास का साधन किसे पूरा जुट पाता है? यही कारण है कि छात्रों के सूत्र से परिव्याप्त क्षोभ की ज्वाला बुझाये नहीं बुझ रही है। यह क्षोभ और असन्तोष उन रास्तों की तलाश में लगेगा ही, जहाँ से उसके विलास साधनों की पूर्ति हो सके। ऐसे ही मौके शत्रुओं के लिए वह स्वर्ण सुयोग होते हैं जहाँ वह आसानी से भेद-बीज बो सकता है। इसीलिए, भारतीय राजनीति "यथावत विद्या" प्रसार पर जोर देती है।

अन्त में, यह भी बतला देना आवश्यक ही है कि "यथावत् विद्या प्रसार" के लिए वह विद्याएँ हैं कौन-सी जिनका प्रसार किया जाय ? कहना होगा कि (१) समस्त विद्याओं का यथार्थ बोध प्रदान करने और शत्रु द्वारा प्रसारित भ्रम एवं कुशंकाओं के निवारण में समर्थ तर्क (आन्वीक्षिकी) विद्या, (२) स्थिर संधि के प्राणरूप परलोक विश्वास को सम्भव करनेवाली वैदिक शास्त्रीय (त्रयी) विद्या, (३) अर्थागम संभव करनेवाली व्यापार, कृषि, पशुपालन (वार्ता) विद्या और (४) अपने कर्त्तव्य एवं सुरक्षा का मार्ग दिखलानेवाली राजनीति (दंड) विद्या, इन्हीं चार मुख्य विद्याओं का प्रसार अभीष्ट है। कामन्दक के निम्नलिखित वचन में भी यही बात कही है—

"आन्वीक्षिकीं त्रयीं वार्तां दंडनीतिं च पार्थिवः ।
तद्विद्यैस्तत्क्रियोपेतैश्चिंतयेत् विनयान्वितः ॥
आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दंडनीतिश्च शाश्वती ।
विद्याश्चतस्र एवैता लोकसंस्थितिहेतवः ॥"

इस प्रकार, यहाँ प्रस्तुत हुए संपूर्ण विवेचन से संक्षेप में इस बात की विश्वस्त झलक मिल जायगी कि पाश्चात्य राजनीति की एक एक त्रुटियों का गिन-गिन कर समाधान और उनसे संबद्ध आवश्यक अन्य अंगों का भी पूर्ण निर्देशन भारतीय राजनीति में उपलब्ध है। कहना इतना ही है कि यदि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों ही प्रकार की समृद्धियों का अमोघ पारावार राष्ट्र में लहराना अभीष्ट हो तो प्रत्येक समझदार व्यक्ति का यह कर्त्तव्य हो जाना चाहिये कि वह सर्वांग परिपूर्ण भारतीय राजनीति की ओर ध्यान देकर उसके अनुसरण का व्रत ले । इस निवेदन के साथ गीता के महावाक्य—

"यत्र योगेश्वरः कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्री : विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥"

का स्मरण करते हुए लेखनी यहाँ विश्राम लेती है।

इति शम् ।

श्री महागणपति सहस्रनामस्तोत्रम्

पुस्तके लिखितं यत्र गृहे 'स्तोत्रं' प्रपूजयेत् ।
तत्र सर्वोत्तमा लक्ष्मीः सन्निधत्ते निरन्तरम् ॥

(गणेश सहस्रनाम)

श्रीमहागणपतिध्यानम् ।

हस्तीन्द्राननमिन्दुचूडमरुणच्छायं त्रिनेत्रं रसा-
दाश्लिष्टं प्रियया सपद्मकरया स्वांकस्थया संततम् ।।
बीजापूरगदाधनुस्त्रिशिखयुक्चक्राब्जपाशोत्पल-
व्रीह्यग्रस्वविषाणरत्नकलशान्हस्तैर्वहन्तं भजे ।।

गंडपालीगलद्दानपूरलालसमानसान् ।
द्विरेफान्कर्णतालाभ्यां वारयन्तं मुहुर्मुहुः ।।
कराग्रधृतमाणिक्यकुंभवक्त्रविनिर्गतैः ।
रत्नवर्षैः प्रीणयन्तं साधकान्मदविह्वलम् ।।
माणिक्यमुकुटोपेतं सर्वाभरणभूषितम् ।
शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

श्रीमहागणपतिसहस्रनामस्तोत्रम् ।

व्यास उवाच—

कथं नाम्नां सहस्रं स्वं गणेश उपदिष्टवान् ।
शिवायैतन्ममाचक्ष्व लोकानुग्रहतत्पर ॥१॥

ब्रह्मोवाच—

देव एवं पुराराति: पुरत्रयजयोद्यमे ।
अनर्चनाद्गणेशस्य जातो विघ्नाकुलः किल ॥२॥
मनसा स विनिर्धार्य ततस्तद्विघ्नकारणम् ।
महागणपतिं भक्त्या समभ्यर्च्य यथाविधि ॥३॥
विघ्नप्रशमनोपायमपृच्छदपराजितः ।
संतुष्टः पूजया शम्भोर्महागणपतिः स्वयम् ॥४॥
सर्वविघ्नैकहरणं सर्वकामफलप्रदम् ।
ततस्तस्मै स्वकं नाम्नां सहस्रमिदमब्रवीत् ॥५॥

अस्य श्रीमहागणपतिसहस्रनामस्तोत्रमन्त्रस्य । महागणपतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । महागणपतिर्देवता । गं बीजम् । हुं शक्तिः । स्वाहा कीलकम् । चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थे जपादौ विनियोगः ।

अथ न्यासः

ॐ गां अंगुष्ठाभ्यां नमः हृदयाय नमः । ॐ गीं तर्जनी० शिरसे० । ॐ गूं मध्यमाभ्यां० शिखायै० । ॐ गैं अनामिका० कवचाय० । ॐ गौं कनिष्ठिका० नेत्रत्रयाय० । ॐ गः करतलकरपृष्ठा० अस्त्राय० ॥

इति न्यासः

अथ ध्यानम्

पञ्चवक्त्रो दशभुजो भालचन्द्रः शशिप्रभः ॥
मुण्डमालः सर्पभूषो मुकुटाङ्गदभूषणः ॥
अग्न्यर्कशशिनो भाभिस्तिरस्कुर्वन्दशायुधः ॥

इति ध्यानम्

—०—

मानसोपचारैः सम्पूज्य ।

ॐ [१] गणेश्वरो [२] गणक्रीडो [३] गणनाथो [४] गणाधिपः ।
[५] एकदंष्ट्रो [६] वक्रतुण्डो [७] गजवक्त्रो [८] महोदरः ॥१॥
[९] लम्बोदरो [१०] धूम्रवर्णो [११] विकटो [१२] विघ्ननायकः ।
[१३] सुमुखो [१४] दुर्मुखो [१५] बुद्धो [१६] विघ्नराजो [१७] गजाननः ॥२॥
[१८] भीमः [१९] प्रमोद [२०] आमोदः [२१] सुरानन्दो [२२] मदोत्कटः ।
[२३] हेरम्बः [२४] शम्बरः [२५] शम्भुर्[२६] लम्बकर्णो [२७] महाबलः ॥३॥

२८ २९ ३० ३१ ३२
नन्दनोऽलम्पटोऽभीरुर्मेघनादो गणञ्जयः ।
३३ ३४ ३५ ३६
विनायको विरूपाक्षो धीरशूरो वरप्रदः ॥४॥
३७ ३८ ३९
महागणपतिर्बुद्धिप्रियः क्षिप्रप्रसादनः ।
४० ४१ ४२ ४३
रुद्रप्रियो गणाध्यक्ष उमापुत्रोऽघनाशनः ॥५॥
४४ ४५ ४६
कुमारगुरुरीशानपुत्रो मूषकवाहनः ।
४७ ४८ ४९ ५०
सिद्धिप्रियः सिद्धिपतिः सिद्धः सिद्धिविनायकः ॥६॥
५१ ५२ ५३ ५४
अविघ्नस्तुम्बुरुः सिंहवाहनो मोहिनीप्रियः ।
५५ ५६ ५७ ५८ ५९
कटङ्कटो राजपुत्रः शालकः सम्मितोऽमितः ॥७॥
६० ६१ ६२ ६३
कूष्माण्डसामसम्भूतिर्दुर्जयो धूर्जयो जयः ।
६४ ६५ ६६ ६७
भूपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिरव्ययः ॥८॥
६८ ६९ ७० ७१ ७२
विश्वकर्ता, विश्वमुखो विश्वरूपो निधिर्घृणिः ।
७३ ७४ ७५ ७६
कविः कवीनामृषभो ब्रह्मणां (पतिः) ब्रह्मणस्पतिः ॥९॥
७७ ७८ ७९
ज्येष्ठराजो निधिपतिर्निधिप्रियपतिप्रियः ।
८० ८१
हिरण्मयपुरान्तस्थः सूर्यमण्डलमध्यगः ॥१०॥
८२ ८३
कराहतिध्वस्तसिन्धुसलिलः पूषदन्तभित् ।
८४ ८५ ८६
उमाङ्ककेलिकुतुकी मुक्तिदः कुलपालनः ॥११॥

[८७] किरीटी [८८] कुण्डली [८९] हारी [९०] वनमाली [९१] मनोमयः ।
[९२] वैमुख्यहतदैत्यश्रीः [९३] पादाहतिजितक्षितिः ॥१२॥
[९४] सद्योजातस्वर्णमुञ्जमेखली [९५] दुर्निमित्तहृत् ।
[९६] दुःस्वप्नहृत्[९७]प्रसहनो [९८] गुणी [९९] नादप्रतिष्ठितः ॥१३॥
[१००] सुरूपः [१०१] सर्वनेत्राधिवासो [१०२] वीरासनाश्रयः ।
[१०३] पीताम्बरः [१०४] खण्डरदः [१०५] खण्डेन्दुकृतशेखरः ॥१४॥
[१०६] चित्राङ्कश्यामदशनो [१०७] भालचन्द्रश्[१०८]चतुर्भुजः ।
[१०९] योगाधिपस्[११०]तारकस्थः [१११] पुरुषो [११२] गजकर्णकः ॥१५॥
[११३] गणाधिराजो [११४] विजयस्थिरो [११५] गजपतिध्वजी ।
[११६] देवदेवः [११७] स्मरप्राणदीपको [११८] वायुकीलकः ॥१६॥
[११९] विपश्चिद्वरदो [१२०] नादोन्नादभिन्नबलाहकः ।
[१२१] वराहरदनो [१२२] मृत्युञ्जयो [१२३] व्याघ्राजिनाम्बरः ॥१७॥
[१२४] इच्छाशक्तिधरो [१२५] देवत्राता [१२६] दैत्यविमर्दनः ।
[१२७] शम्भुवक्त्रोद्भवः [१२८] शम्भुकोपहा [१२९] शम्भुहास्यभूः ॥१८॥
[१३०] शम्भुतेजाः [१३१] शिवाशोकहारी [१३२] गौरीसुखावहः ।
[१३३] उमाङ्गमलजो [१३४] गौरीतेजोभूः [१३५] स्वर्धुनीभवः ॥१९॥

१३६ १३७ १३८ १३९
यज्ञकायो महानादो गिरिवर्ष्मा शुभाननः ।

१४० १४१ १४२ १४३
सर्वात्मा सर्वदेवात्मा ब्रह्ममूर्धा ककुप्श्रुतिः ॥२०॥

१४४ १४५ १४६
ब्रह्माण्डकुम्भश्चिद्व्योमभालः सत्यशिरोरुहः ।

१४७ १४८
जगज्जन्मलयोन्मेषनिमेषोऽग्न्यर्कसोमदृक् ॥२१॥

१४९ १५० १५१
गिरीन्द्रैकरदो धर्माधर्मोष्ठः सामबृंहितः ।

१५२ १५३ १५४
ग्रहर्क्षदशनो वाणीजिह्वो वासवनासिकः ॥२२॥

१५५ १५६ १५७
कुलाचलांसः सोमार्कघण्टो रुद्रशिरोधरः ।

१५८ १५९ १६०
नदीनदभुजः सर्पाङ्गुलीकः तारकानखः ॥२३॥

१६१ १६२
भ्रूमध्यसंस्थितकरो ब्रह्मविद्यामदोत्कटः ।

१६३ १६४ १६५ १६६
व्योमनाभिः श्रीहृदयो मेरुपृष्ठोऽर्णवोदरः ॥२४॥

१६७
कुक्षिस्थयक्षगन्धर्वरक्षःकिन्नरमानुषः ।

१६८ १६९ १७० १७१
पृथ्वीकटिः सृष्टिलिङ्गः शैलोरुर्दस्रजानुकः ॥२५॥

१७२ १७३ १७४ १७५
पातालजंघो मुनिपात्कालाङ्गुष्ठस्त्रयीतनुः ।

१७६ १७७
ज्योतिर्मण्डललाङ्गूलो हृदयालाननिश्चलः ॥२६॥

१७८
हृत्पद्मकर्णिकाशालिवियत्केलिसरोवरः ।

१७९ १८०
सद्भक्तध्याननिगडः पूजावारीनिवारितः ॥२७॥

१८१ १८२ १८३ १८४ १८५
प्रतापी कश्यपसुतो गणपो विष्टपी बली ।
१८६ १८७ १८८ १८९ १९०
यशस्वी धार्मिकः स्वोजाः प्रथमः प्रथमेश्वरः ॥२८॥

१९१ १९२
चिन्तामणिद्वीपपतिः कल्पद्रुमवनालयः ।
१९३ १९४
रत्नमण्डपमध्यस्थो रत्नसिंहासनाश्रयः ॥२९॥

१९५ १९६
तीव्राशिरोधृतपदो ज्वालिनीमौलिलालितः ।
१९७ १९८
नन्दानन्दितपीठश्रीर्भोगदाभूषितासनः ॥३०॥

१९९ २००
सकामदायिनीपीठः स्फुरदुग्रासनाश्रयः ।
२०१ २०२
तेजोवतीशिरोरत्नं सत्यानित्यावतंसितः ॥३१॥

२०३ २०४
सविघ्ननाशिनीपीठः सर्वशक्त्यम्बुजाश्रयः ।
२०५ २०६
लिपिपद्मासनाधारो वह्निधामत्रयाश्रयः ॥३२॥

२०७ २०८ २०९
उन्नतप्रपदो गूढगुल्फः संवृतपार्ष्णिकः ।
२१० २११ २१२ २१३
पीनजंघः श्लिष्टजानुः स्थूलोरुः प्रोन्नमत्कटिः ॥३३॥

१४ २१५ २१६ २१७
निम्ननाभिः स्थूलकुक्षिः पीनवक्षा बृहद्भुजः ।
२१८ २१९ २२० २२१
पीनस्कन्धः कम्बुकण्ठो लम्बोष्ठो लम्बनासिकः ॥३४॥

२२२ २२३ २२४
भग्नवामरदस्तुङ्गसव्यदन्तो महाहनुः ।
२२५ २२६ २२७
ह्रस्वनेत्रत्रयः शूर्पकर्णो निबिडमस्तकः ॥३५॥

[२२८] स्तबककारकुम्भाग्रो [२२९] रत्नमौलि[२३०]र्निरङ्कुशः ।
[२३१] सर्पहारकटीसूत्रः [२३२] सर्पयज्ञोपवीतवान् ॥३६॥
[२३३] सर्पकोटीरकटकः [२३४] सर्पग्रैवेयकाङ्गदः ।
[२३५] सर्पकक्ष्योदराबन्धः [२३६] सर्पराजोत्तरीयकः ॥३७॥
[२३७] रक्तो [२३८] रक्ताम्बरधरो [२३९] रक्तमाल्यविभूषणः ।
[२४०] रक्तेक्षणो [२४१] रक्तकरो [२४२] रक्तताल्वोष्ठपल्लवः ॥३८॥
[२४३] श्वेतः [२४४] श्वेताम्बरधरः [२४५] श्वेतमाल्यविभूषणः ।
[२४६] श्वेतातपत्ररुचिरः [२४७] श्वेतचामरवीजितः ॥३९॥
[२४८] सर्वावयवसम्पूर्णसर्वलक्षणलक्षितः ।
[२४९] सर्वाभरणशोभाढ्यः [२५०] सर्वशोभासमन्वितः ॥४०॥
[२५१] सर्वमङ्गलमाङ्गल्यः [२५२] सर्वकारणकारणम् ।
[२५३] सर्वदैककरः [२५४] शार्ङ्गी [२५५] बीजापूरी [२५६] गदाधरः ॥४१॥
[२५७] इक्षुचापधरः [२५८] शूली [२५९] चक्रपाणिः [२६०] सरोजभृत् ।
[२६१] पाशी [२६२] धृतोत्पलः [२६३] शालीमञ्जरीभृत्[२६४]स्वदन्तभृत् ॥४२॥
[२६५] कल्पवल्लीधरो [२६६] विश्वाभयदैककरो [२६७] वशी ।
[२६८] अक्षमालाधरो [२६९] ज्ञानमुद्रावान्[२७०]मुद्गरायुधः ॥४३॥

२७१ पूर्णपात्री २७२ कम्बुधरो २७३ विधृतालिसमुद्गकः ।
२७४ मातुलिङ्गधर२७५ श्चूतकलिका२७६ भृत्कुठारवान् ॥४४॥
पुष्करस्थस्वर्णघटी२७७ पूर्णरत्नाभिवर्षकः ।
२७८ भारतीसुन्दरीनाथो २७९ विनायकरतिप्रियः ॥४५॥
२८० महालक्ष्मीप्रियतमः २८१ सिद्धलक्ष्मीमनोरमः ।
२८२ रमारमेशपूर्वाङ्गो २८३ दक्षिणोमामहेश्वरः ॥४६॥
२८४ महीवराहवामाङ्गो २८५ रतिकन्दर्पपश्चिमः ।
२८६ आमोदमोदजननः २८७ सप्रमोदप्रमोदनः ॥४७॥
२८८ समेधितसमृद्धिश्री२८९ र्ऋद्धिसिद्धिप्रवर्तकः ।
२९० दत्तसौमुख्यसुमुखः २९१ कान्तिकन्दलिताश्रयः ॥४८॥
२९२ मदनावत्याश्रिताङ्घ्रिः २९३ कृत्तदौर्मुख्यदुर्मुखः ।
२९४ विघ्नसम्पल्लवोपघ्नः २९५ सेवोन्निद्रमदद्रवः ॥४९॥
२९६ विघ्नकृन्निघ्नचरणो २९७ द्राविणीशक्तिसत्कृतः ।
२९८ तीव्राप्रसन्ननयनो २९९ ज्वालिनीपालितैकदृक् ॥५०॥
३०० मोहिनीमोहनो ३०१ भोगदायिनीकान्तिमण्डितः ।
३०२ कामिनीकान्तवक्त्रश्री३०३ रधिष्ठितवसुन्धरः ॥५१॥

३०४ वसुन्धरामदोन्नद्धमहाशंखनिधिप्रभुः ।
३०५ नमद्वसुमतीमौलिमहापद्मनिधिप्रभुः ॥५२॥
३०६ सर्वसद्गुरुसंसेव्यः ३०७ शोचिष्केशहृदाश्रयः ।
३०८ ईशानमूर्धा ३०९ देवेन्द्रशिखा ३१० पवननन्दनः ॥५३॥
३११ अग्रप्रत्यग्रनयनो ३१२ दिव्यास्त्राणां प्रयोगवित् ।
३१३ ऐरावतादिसर्वाशावारणावरणप्रियः ॥५४॥
३१४ वज्राद्यस्त्रपरीवारो ३१५ गणचण्डसमाश्रयः ।
३१६ जयाजयपरीवारो ३१७ विजयाविजयावहः ॥५५॥
३१८ अजितार्चितपादाब्जो ३१९ नित्यानित्यावतंसितः ।
३२० विलासिनीकृतोल्लासः ३२१ शौण्डीसौन्दर्यमण्डितः ॥५६॥
३२२ अनन्तानन्तसुखदः ३२३ सुमङ्गलसुमङ्गलः ।
३२४ इच्छाशक्तिज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिनिषेवितः ॥५७॥
३२५ सुभगासंश्रितपदो ३२६ ललितालतिताश्रयः ।
३२७ कामिनीकामनः ३२८ काममालिनीकेलिलालितः ॥५८॥
३२९ सरस्वत्याश्रयो ३३० गौरीनन्दनः ३३१ श्रीनिकेतनः ।
३३२ गुरुगुप्तपदो ३३३ वाचासिद्धो ३३४ वागीश्वरीपतिः ॥५९॥

[३३५]नलिनीकामुको [३३६]वामारामो [३३७]ज्येष्ठामनोरमः ।
[३३८]रौद्रिमुद्रितपादाब्जो [३३९]हुम्बीजस्[३४०]तुङ्गशक्तिकः ॥६०॥
[३४१]विश्वादिजननत्राणः [३४२]स्वाहाशक्तिः [३४३]सकीलकः ।
[३४४]अमृताब्धिकृतावासो [३४५]मदघूर्णितलोचनः ॥६१॥
[३४६]उच्छिष्टगण [३४७]उच्छिष्टगणेशो [३४८]गणनायकः ।
[३४९]सार्वकालिकसंसिद्धिर्[३५०]नित्यशैवो [३५१]दिगम्बरः ॥६२॥
[३५२]अनपायो[३५३]ऽनन्तदृष्टिर[३५४]प्रमेयो[३५५]ऽजरामरः ।
[३५६]अनाविलो[३५७]ऽप्रतिरथो[३५८]ऽह्यच्युतो[३५९]ऽमृतम[३६०]क्षरम् ॥६३॥
[३६१]अप्रतर्क्यो[३६२]ऽक्षयो[३६३]ऽजय्यो[३६४]नाधारो[३६५]ऽनामयो[३६६]ऽमलः ।
[३६७]अमोघसिद्धिर[३६८]द्वैतम[३६९]घोरो[३७०]ऽप्रमिताननः ॥६४॥
[३७१]अनाकारो[३७२]ऽब्धिभूम्यग्निबलघ्नो[३७३]ऽव्यक्तलक्षणः ।
[३७४]आधारपीठ [३७५]आधार [३७६]आधाराधेयवर्जितः ॥६५॥
[३७७]आखुकेतन [३७८]आशापूरक [३७९]आखुमहारथः ।
[३८०]इक्षुसागरमध्यस्थ [३८१]इक्षुभक्षणलालसः ॥६६॥
[३८२]इक्षुचापातिरेकश्रीर्[३८३]इक्षुचापनिषेवितः ।
[३८४]इन्द्रगोपसमानश्रीर्[३८५]इन्द्रनीलसमद्युतिः ॥६७॥

३८६ ३८७
इन्दीवरदलश्याम इन्दुमण्डलनिर्मलः ।

३८८ ३८९ ३९० ३९१
इध्मप्रिय इडाभाग इराधामेन्दिराप्रियः ॥६८॥

३९२ ३९३
इक्ष्वाकुविघ्नविध्वंसी इतिकर्तव्यतेप्सितः ।

३९४ ३९५ ३९६ ३९७
ईशानमौलिरीशान ईशानसुत ईतिहा ॥६९॥

३९८ ३९९
ईषणात्रयकल्पान्त ईहामात्रविवर्जितः ।

४०० ४०१ ४०२
उपेन्द्र उडुभृन्मौलिरुण्डेरकबलिप्रियः ॥७०॥

४०३ ४०४ ४०५
उन्नतानन उत्तुङ्ग उदारत्रिदशाग्रणीः ।

४०६ ४०७ ४०८
ऊर्जस्वानूष्मलमद ऊहापोहदुरासदः ॥७१॥

४०९ ४१०
ऋग्यजुःसामसम्भूतिर्ऋद्धिसिद्धिप्रदायकः ।

४११ ४१२
ऋजुचित्तैकसुलभ ऋणत्रयविमोचकः ॥७२॥

४१३ ४१४
लुप्तविघ्नः स्वभक्तानां लुप्तशक्तिःसुरद्विषाम् ।

४१५ ४१६
लुप्तश्रीर्विमुखार्चानां लूताविस्फोटनाशनः ॥७३॥

४१७ ४१८
एकारपीठमध्यस्थ एकपादकृतासनः ।

४१९ ४२०
एजिताखिलदैत्यश्रीरेधिताखिलसंश्रयः ॥७४॥

४२१ ४२२ ४२३
ऐश्वर्यनिधिरैश्वर्यमैहिकामुष्मिकप्रदः ।

४२४ ४२५
ऐरम्मदसमोन्मेष ऐरावतनिभाननः ॥७५॥

४२६ ४२७ ४२८ ४२९
ओङ्कारवाच्य ओङ्कार ओजस्वानोषधीपतिः ।
४३० ४३१ ४३२
औदार्यनिधिरौद्धत्यधुर्यः औन्नत्यनिस्वनः ॥७६॥

४३३ ४३४
अङ्कुशः सुरनागानामङ्कुशः सुरविद्विषाम् ।
४३५
अःसमस्तविसर्गान्तपदेषु परिकीर्तितः ॥७७॥

४३६ ४३७ ४३८ ४३९
कमण्डलुधरः कल्पः कपर्दी कलभाननः ।
४४० ४४१ ४४२
कर्मसाक्षी कर्मकर्ता कर्माकर्मफलप्रदः ॥७८॥

४४३ ४४४
कदम्बगोलकाकारः कूष्माण्डगणनायकः ।
४४५ ४४६ ४४७ ४४८
कारुण्यदेहः कपिलः कथकः कटिसूत्रभृत् ॥७९॥

४४९ ४५० ४५१ ४५२
खर्वः खड्गप्रियःखड्गखान्तान्तःस्थः खनिर्मलः।
४५३ ४५४ ४५५
खल्वाटशृङ्गनिलयः खट्वाङ्गी खदुरासदः ॥८०॥

४५६ ४५७ ४५८ ४५९
गुणाढ्यो गहनो गस्थो गद्यपद्यसुधार्णवः ।
४६० ४६१ ४६२
गद्यगानप्रियो गर्जो गीतगीर्वाणपूर्वजः ॥८१॥

४६३ ४६४ ४६५
गुह्याचाररतो गुह्यो गुह्यागमनिरूपितः ।
४६६ ४६७ ४६८ ४६९
गुहाशयो गुहाब्धिस्थो गुरुगम्यो गुरोर्गुरुः ॥८२॥

४७० ४७१ ४७२
घण्टाघर्घरिकामाली घटकुम्भो घटोदरः ।
४७३ ४७४ ४७५ ४७६
चण्डश्चण्डेश्वरसुहृच्चण्डीशश्चण्डविक्रमः ॥८३॥

४७७ ४७८
चराचरपतिश्चिन्तामणिचर्वणलालसः ।

४७९ ४८० ४८१ ४८२
छन्दश्छन्दोवपुश्छन्दोदुर्लक्ष्यश्छन्दविग्रहः ॥८४॥

४८३ ४८४ ४८५ ४८६
जगद्योनिर्जगत्साक्षी जगदीशो जगन्मयः ।

४८७ ४८८ ४८९ ४९०
जपो जपपरो जप्यो जिह्वासिंहासनप्रभुः ॥८५॥

४९१
झलज्झलोल्लसद्दानझङ्कारिभ्रमराकुलः ।

४९२ ४९३
टङ्कारस्फारसंरावष्टङ्कारिमणिनूपुरः ॥८६॥

४९४
ठद्वयीपल्लवान्तःस्थसर्वमन्त्रैकसिद्धिदः ।

४९५ ४९६ ४९७ ४९८
डिण्डिमुण्डो डाकिनीशो डामरो डिण्डिमप्रियः ॥८७॥

४९९ ५०० ५०१
ढक्कानिनादमुदितो ढौको ढुण्ढिविनायकः ।

५०२ ५०३
तत्त्वानां परमं तत्त्वं तत्त्वंपदनिरूपितः ॥८८॥

५०४ ५०५ ५०६
तारकान्तरसंस्थानस्तारकस्तारकान्तकः ।

५०७ ५०८ ५०९ ५१०
स्थाणुः स्थाणुप्रियः स्थाता स्थावरं जङ्गमं जगत् ॥८९॥

५११ ५१२ ५१३
दक्षयज्ञप्रमथनो दाता दानवमोहनः ।

५१४ ५१५ ५१६ ५१७
दयावान्दिव्यविभवो दण्डभृद्दण्डनायकः ॥९०॥

५१८ ५१९
दन्तप्रभिन्नाभ्रमालो दैत्यवारणदारणः ।

५२० ५२१
दंष्ट्रालग्नद्विपघटो देवार्थनृगजाकृतिः ॥९१॥

[५२२] धनधान्यपति[५२३]र्धन्यो [५२४] धनदो [५२५] धरणीधरः ।
[५२६] ध्यानैकप्रकटो [५२७] ध्येयो [५२८] ध्यानं [५२९] ध्यानपरायणः ॥९२॥
[५३०] नन्द्यो [५३१] नन्दिप्रियो [५३२] नादो [५३३] नादमध्यप्रतिष्ठितः ।
[५३४] निष्कलो [५३५] निर्मलो [५३६] नित्यो [५३७] नित्यानित्यो [५३८] निरामयः ॥९३॥

[५३९] परं व्योम [५४०] परं धाम [५४१] परमात्मा [५४२] परं पदम् ।
[५४३] परात्परः [५४४] पशुपतिः [५४५] पशुपाशविमोचकः ॥९४॥
[५४६] पूर्णानन्दः [५४७] परानन्दः [५४८] पुराणपुरुषोत्तमः ।
[५४९] पद्मप्रसन्ननयनः [५५०] प्रणताज्ञानमोचनः ॥९५॥
[५५१] प्रमाणप्रत्ययातीतः [५५२] प्रणतार्तिनिवारणः ।
[५५३] फलहस्तः [५५४] फणिपतिः [५५५] फेत्कारः [५५६] फाणितप्रियः ॥९६॥
[५५७] बाणार्चिताङ्घ्रियुगलो [५५८] बालकेलिकुतूहली ।
[५५९] ब्रह्म [५६०] ब्रह्मार्चितपदो [५६१] ब्रह्मचारी [५६२] बृहस्पतिः ॥९७॥
[५६३] बृहत्तमो [५६४] ब्रह्मपरो [५६५] ब्रह्मण्यो [५६६] ब्रह्मवित्प्रियः ।
[५६७] बृहन्नादाग्र्यचीत्कारो [५६८] ब्रह्माण्डावलिमेखलः ॥९८॥
[५६९] भ्रूक्षेपदत्तलक्ष्मीको [५७०] भर्गो [५७१] भद्रो [५७२] भयापहः ।
[५७३] भगवान् [५७४] भक्तिसुलभो [५७५] भूतिदो [५७६] भूतिभूषणः ॥९९॥

५७७ ५७८ ५७९ ५८०

भव्यो भूतालयो भोगदाता भ्रूमध्यगोचरः ।

५८१ ५८२ ५८३ ५८४

मन्त्रो मन्त्रपतिर्मन्त्री मदमत्तमनोरमः ॥१००॥

५८५ ५८६ ५८७

मेखलावान्मन्दगतिर्मतिमत्कमलेक्षणः ।

५८८ ५८९ ५९० ५९१

महाबलो महावीर्यो महाप्राणो महामनाः ॥१०१॥

५९२ ५९३ ५९४ ५९५

यज्ञो यज्ञपतिर्यज्ञगोप्ता यज्ञफलप्रदः ।

५९६ ५९७ ५९८ ५९९

यशस्करो योगगम्यो याज्ञिको याजकप्रियः ॥१०२॥

६०० ६०१ ६०२ ६०३ ६०४

रसो रसप्रियो रस्यो रञ्जको रावणार्चितः ।

६०५ ६०६ ६०७

रक्षोरक्षाकरो रत्नगर्भो राज्यसुखप्रदः ॥१०३॥

६०८ ६०९ ६१० ६११ ६१२

लक्ष्यं लक्ष्यप्रदो लक्ष्यो लयस्थो लड्डुकप्रियः ।

६१३ ६१४ ६१५

लानप्रियो लास्यपरो लाभकृल्लोकविश्रुतः ॥१०४॥

६१६ ६१७ ६१८ ६१९

वरेण्यो वह्निवदनो वन्द्यो वेदान्तगोचरः ।

६२० ६२१ ६२२ ६२३

विकर्ता विश्वतश्चक्षुर्विधाता विश्वतोमुखः ॥१०५॥

६२४ ६२५ ६२६

वामदेवो विश्वनेता वज्रिवज्रनिवारणः ।

६२७ ६२८

विश्वबन्धनविष्कम्भाधारो विश्वेश्वरप्रभुः ॥१०६॥

६२९ ६३० ६३१

शब्दब्रह्म शमप्राप्यः शम्भुशक्तिगणेश्वरः ।

६३२ ६३३ ६३४ ६३५

शास्ता शिखाग्रनिलयः शरण्यः शिखरीश्वरः ॥१०७॥

६३६ ६३७ ६३८
षडृतुकुसुमस्रग्वी षडाधारः षडक्षरः ।
६३९ ६४० ६४१
संसारवैद्यः सर्वज्ञः सर्वभेषजभेषजम् ॥१०८॥
६४२ ६४३
सृष्टिस्थितिलयक्रीडः सुरकुञ्जरभेदनः ।
६४४ ६४५
सिन्दूरितमहाकुम्भः सदसद्व्यक्तिदायकः ॥१०९॥
६४६ ६४७ ६४८ ६४९
साक्षी समुद्रमथनः स्वसंवेद्यः स्वदक्षिणः ।
६५० ६५१ ६५२ ६५३
स्वतन्त्रः सत्यसङ्कल्पः सामगानरतः सुखी ॥११०॥
६५४ ६५५ ६५६ ६५७
हंसो हस्तिपिशाचीशो हवनं हव्यकव्यभुक् ।
६५८ ६५९ ६६० ६६१
हव्यो हुतप्रियो हर्षो हृल्लेखामन्त्रमध्यगः ॥१११॥
६६२ ६६३ ६६४
क्षेत्राधिपः क्षमाभर्ता क्षमापरपरायणम् ।
६६५ ६६६ ६६७
क्षिप्रक्षेमकरः क्षेमानन्दः क्षोणीसुरद्रुमः ॥११२॥
६६८ ६६९ ६७० ६७१
धर्मप्रदोऽर्थदः कामदाता सौभाग्यवर्धनः ।
६७२ ६७३ ६७४
विद्याप्रदो विभवदो भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ॥११३॥
६७५ ६७६ ६७७
आभिरूप्यकरो वीरश्रीप्रदो विजयप्रदः ।
६७८ ६७९ ६८०
सर्ववश्यकरो गर्भदोषहा पुत्रपौत्रदः ॥११४॥
६८१ ६८२ ६८३ ६८४
मेधादः कीर्तिदः शोकहारी दौर्भाग्यनाशनः ।
६८५ ६८६
प्रतिवादिमुखस्तम्भो रुष्टचित्तप्रसादनः ॥११५॥

६८७ ६८८
पराभिचारशमनो दुःखभञ्जनकारकः ।
६८९ ६९० ६९१ ६९२ ६९३ ६९४ ६९५
लवस्त्रुटिः कला काष्ठा निमेषस्तत्परः क्षणः ॥११६॥
६९६ ६९७ ६९८ ६९९ ७०० ७०१
घटी मुहूर्तं प्रहरो दिवा नक्तमहर्निशम् ।
७०२ ७०३ ७०४ ७०५ ७०६ ७०७ ७०८
पक्षो मासोऽयनं वर्षं युगं कल्पो महालयः ॥११७॥
७०९ ७१० ७११ ७१२ ७१३ ७१४ ७१५
राशिस्तारा तिथिर्योगो वारः करणमंशकम् ।
७१६ ७१७ ७१८ ७१९ ७२० ७२१
लग्नं होरा कालचक्रं मेरुः सप्तर्षयो ध्रुवः ॥११८॥
७२२ ७२३ ७२४ ७२५ ७२६ ७२७ ७२८ ७२९
राहुर्मन्दः कविर्जीवो बुधो भौमः शशी रविः ।
७३० ७३१ ७३२ ७३३
कालः सृष्टिः स्थितिर्विश्वं स्थावरं जङ्गमं च यत् ॥११९॥
७३४ ७३५ ७३६ ७३७ ७३८ ७३९ ७४० ७४१
भूरापोऽग्निर्मरुद्व्योमाहंकृतिः प्रकृतिः पुमान् ।
७४२ ७४३ ७४४ ७४५ ७४६ ७४७ ७४८
ब्रह्मा विष्णुः शिवो रुद्र ईशः शक्तिः सदाशिवः ॥१२०॥
७४९ ७५० ७५१ ७५२ ७५३ ७५४
त्रिदशाः पितरः सिद्धा यक्षा रक्षांसि किन्नराः ।
७५५ ७५६ ७५७ ७५८ ७५९ ७६०
साद्ध्या विद्याधरा भूता मनुष्याः पशवः खगाः ॥१२१॥
७६१ ७६२ ७६३ ७६४ ७६५ ७६६
समुद्राः सरितः शैला भूतं भव्यं भवोद्भवः ।
७६७ ७६८ ७६९ ७७० ७७१ ७७२
साङ्ख्यं पातञ्जलं योगः पुराणानि श्रुतिः स्मृतिः ॥१२२॥
७७३ ७७४ ७७५ ७७६
वेदाङ्गानि सदाचारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
७७७ ७७८ ७७९ ७८०
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वं काव्यनाटकम् ॥१२३॥

७८१ ७८२ ७८३ ७८४
वैखानसं भागवतं सात्वतं पाञ्चरात्रकम् ।
७८५ ७८६ ७८७ ७८८
शैवं पाशुपतं कालामुखं भैरवशासनम् ॥१२४॥
७८९ ७९० ७९१ ७९२ ७९३
शाक्तं वैनायकं सौरं जैनमार्हतसंहिता ।
७९४ ७९५ ७९६ ७९७ ७९८ ७९९
सदसद्व्यक्तमव्यक्तं सचेतनमचेतनम् ॥१२५॥
८०० ८०१ ८०२ ८०३ ८०४ ८०५ ८०६ ८०७
बन्धो मोक्षः सुखं भोगो ऽयोगः सत्यमणुर्महान् ।
८०८ ८०९ ८१० ८११ ८१२ ८१३ ८१४ ८१५ ८१६
स्वस्ति हुं फट् स्वधा स्वाहा श्रौषड्वौषड्वषण्नमः॥१२६॥
८१७ ८१८ ८१९ ८२० ८२१ ८२२ ८२३
ज्ञानं विज्ञानमानन्दो बोधः संविच्छमो यमः ।
८२४ ८२५ ८२६
एक एकाक्षराधार एकाक्षरपरायणः ॥१२७॥
८२७ ८२८ ८२९
एकाग्रधीरेकवीर एकाऽनेकस्वरूपधृक् ।
८३० ८३१ ८३२ ८३३ ८३४
द्विरूपो द्विभुजो द्व्यक्षो द्विरदो द्वीपरक्षकः ॥१२८॥
८३५ ८३६ ८३७ ८३८
द्वैमातुरो द्विवदनो द्वन्द्वातीतो द्वयातिगः ।
८३९ ८४० ८४१
त्रिधामा त्रिकरस्त्रेतात्रिवर्गफलदायकः ॥१२९॥
८४२ ८४३ ८४४ ८४५
त्रिगुणात्मा त्रिलोकादिस्त्रिशक्तीशस्त्रिलोचनः ।
८४६ ८४७ ८४८ ८४९
चतुर्बाहुश्चतुर्दन्तश्चतुरात्मा चतुर्मुखः ॥१३०॥
८५० ८५१
चतुर्विधोपायमयश्चतुर्वर्णाश्रमाश्रयः ।
८५२
चतुर्विधवचोवृत्तिपरिवृत्तिप्रवर्तकः ॥१३१॥

८५३ ८५४
चतुर्थीपूजनप्रीतश्चतुर्थीतिथिसम्भवः

८५५ ८५६ ८५७ ८५८
पञ्चाक्षरात्मा पञ्चात्मा पञ्चास्यः पञ्चकृत्यकृत् ॥१३२॥

८५९ ८६० ८६१
पञ्चाधारः पञ्चवर्णः पञ्चाक्षरपरायणः ।

८६२ ८६३ ८६४
पञ्चतालः पञ्चकरः पञ्चप्रणवभावितः ॥१३३॥

८६५ ८६६
पञ्चब्रह्ममयस्फूर्तिः पञ्चावरणवारितः ।

८६७ ८६८ ८६९
पञ्चभक्ष्यप्रियः पञ्चबाणः पञ्चशिवात्मकः ॥१३४॥

८७० ८७१ ८७२
षट्कोणपीठः षट्चक्रधामा षड्ग्रन्थिभेदकः ।

८७३ ८७४
षडध्वध्वान्तविध्वंसी षडङ्गुलमहाह्रदः ॥१३५॥

८७५ ८७६ ८७७
षण्मुखः षण्मुखभ्राता षट्शक्तिपरिवारितः ।

८७८ ८७९
षड्वैरिवर्गविध्वंसी षडूर्मिभयभञ्जनः ॥१३६॥

८८० ८८१ ८८२
षट्तर्कदूरः षट्कर्मनिरतः षड्रसाश्रयः ।

८८३ ८८४
सप्तपातालचरणः सप्तद्वीपोरुमण्डलः ॥१३७॥

८८५ ८८६
सप्तस्वर्लोकमुकुटः सप्तसप्तिवरप्रदः ।

८८७ ८८८
सप्ताङ्गराज्यसुखदः सप्तर्षिगणमण्डितः ॥१३८॥

८८९ ८९० ८९१
सप्तच्छन्दोनिधिः सप्तहोता सप्तस्वराश्रयः ।

८९२ ८९३
सप्ताब्धिकेलिकासारः सप्तमातृनिषेवितः ॥१३९॥

[८९४] सप्तच्छन्दोमोदमदः [८९५] सप्तच्छन्दोमखप्रभुः ।

[८९६] अष्टमूर्तिध्येयमूर्ति [८९७] रष्टप्रकृतिकारणम् ॥१४०॥

[८९८] अष्टाङ्गयोगफलभू [८९९] रष्टपत्राम्बुजासनः ।

[९००] अष्टशक्तिसमृद्धश्री [९०१] रष्टैश्वर्यप्रदायकः ॥१४१॥

[९०२] अष्टपीठोपपीठश्री [९०३] रष्टमातृसमावृतः ।

[९०४] अष्टभैरवसेव्यो [९०५] ऽष्टवसुवन्द्यो [९०६] ऽष्टमूर्तिभृत् ॥१४२॥

[९०७] अष्टचक्रस्फुरन्मूर्ति [९०८] रष्टद्रव्यहविःप्रियः ।

[९०९] नवनागासनाध्यासी [९१०] नवनिध्यनुशासिता ॥१४३॥

[९११] नवद्वारपुराधारो [९१२] नवाधारनिकेतनः ।

[९१३] नवनारायणस्तुत्यो [९१४] नवदुर्गानिषेवितः ॥१४४॥

[९१५] नवनाथमहानाथो [९१६] नवनागविभूषणः ।

[९१७] नवरत्नविचित्राङ्गो [९१८] नवशक्तिशिरोद्धृतः ॥१४५॥

[९१९] दशात्मको [९२०] दशभुजो [९२१] दशदिक्पतिवन्दितः ।

[९२२] दशाध्यायो [९२३] दशप्राणो [९२४] दशेन्द्रियनियामकः ॥१४६॥

[९२५] दशाक्षरमहामन्त्रो [९२६] दशाशाव्यापिविग्रहः ।

एकादशादिभी रुद्रैः [९२७] स्तुत [९२८] एकादशाक्षरः ॥१४७॥

[१२९] द्वादशोद्दण्डदोर्दण्डो [१३०] द्वादशान्तनिकेतनः ।

[१३१] त्रयोदशभिदाभिन्नविश्वेदेवाधिदैवतम् ॥१४८॥

[१३२] चतुर्दशेन्द्रवरदश्[१३३]चतुर्दशमनुप्रभुः ।

[१३४] चतुर्दशादिविद्याढ्यश्[१३५]चतुर्दशजगत्प्रभुः ॥१४९॥

[१३६] सामपञ्चदशः [१३७] पञ्चदशीशीतांशुनिर्मलः ।

[१३८] षोडशाधारनिलयः [१३९] षोडशस्वरमातृकः ॥१५०॥

[१४०] षोडशान्तपदावासः [१४१] षोडशेन्दुकलात्मकः ।

[१४२] कलासप्तदशी [१४३] सप्तदशः [१४४] सप्तदशाक्षरः ॥१५१॥

[१४५] अष्टादशद्वीपपतिर्[१४६]ष्टादशपुराणकृत् ।

[१४७] अष्टादशौषधीसृष्टिर्[१४८]ष्टादशविधिस्मृतः ॥१५२॥

[१४९] अष्टादशलिपिव्यष्टिसमष्टिज्ञानकोविदः ।

[१५०] एकविंशः [१५१] पुमानेकविंशत्यङ्गुलिपल्लवः ॥१५३॥

[१५२] चतुर्विंशतितत्त्वात्मा [१५३] पञ्चविंशाख्यपूरुषः ।

[१५४] सप्तविंशतितारेशः [१५५] सप्तविंशतियोगकृत् ॥१५४॥

[१५६] द्वात्रिंशद्भैरवाधीशश्[१५७]चतुस्त्रिंशन्महाह्रदः ।

[१५८] षट्त्रिंशत्तत्त्वसंभूतिर्[१५९]ष्टात्रिंशत्कलातनुः ॥१५५॥

९६० नमदेकोनपञ्चाशन्मरुद्वर्गनिरर्गलः ।
९६१ पञ्चाशदक्षरश्रेणी ९६२ पञ्चाशद्रुद्रविग्रहः ॥१५६॥
९६३ पञ्चाशद्विष्णुशक्तीशः ९६४ पञ्चाशन्मातृकालयः ।
९६५ द्विपञ्चाशद्वपुःश्रेणी ९६६ त्रिषष्ट्यक्षरसंश्रयः ॥१५७॥
९६७ चतुःषष्ट्यर्णनिर्णेता ९६८ चतुःषष्टिकलानिधिः ।
९६९ चतुःषष्टिमहासिद्धयोगिनीवृन्दवन्दितः ॥१५८॥
९७० अष्टषष्टिमहातीर्थक्षेत्रभैरवभावनः ।
९७१ चतुर्नवतिमन्त्रात्मा ९७२ षण्णवत्यधिकप्रभुः ॥१५९॥
९७३ शतानन्दः ९७४ शतधृतिः ९७५ शतपत्रायतेक्षणः ।
९७६ शतानीकः ९७७ शतमखः ९७८ शतधारावरायुधः ॥१६०॥
९७९ सहस्रपत्रनिलयः ९८० सहस्रफणभूषणः ।
९८१ सहस्रशीर्षापुरुषः ९८२ सहस्राक्षः ९८३ सहस्रपात् ॥१६१॥
९८४ सहस्रनामसंस्तुत्यः ९८५ सहस्राक्षबलापहः ।
९८६ दशसाहस्रफणभृत्फणिराजकृतासनः ॥१६२॥
९८७ अष्टाशीतिसहस्राद्यमहर्षिस्तोत्रयन्त्रितः ।
९८८ लक्षाधीशप्रियाधारो ९८९ लक्षाधारमनोमयः ॥१६३॥

[९९०] चतुर्लक्षजपप्रीतश्[९९१] चतुर्लक्षप्रकाशितः ।
चतुरशीतिलक्षाणां जीवानां [९९२] देहसंस्थितः ॥१६४॥
[९९३] कोटिसूर्यप्रतीकाशः [९९४] कोटिचन्द्रांशुनिर्मलः ।
[९९५] शिवाभवाध्युष्टकोटिविनायकधुरन्धरः ॥१६५॥
[९९६] सप्तकोटिमहामन्त्रमन्त्रितावयवद्युतिः ।
[९९७] त्रयस्त्रिंशत्कोटिसुरश्रेणीप्रणतपादुकः ॥१६६॥
[९९८] अनन्तनामा[९९९] नन्तश्रीर[१०००] नन्ताऽनन्तसौख्यदः ॐ ॥१६७॥
इति वैनायकं नाम्नां सहस्रमिदमीरितम् ।
इदं ब्राह्मे मुहूर्ते यः पठति प्रत्यहं नरः ॥१॥
करस्थं तस्य सकलमैहिकामुष्मिकं सुखम् ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं धैर्यं शौर्यं बलं यशः ॥२॥
मेधा प्रज्ञा धृतिः कान्तिः सौभाग्यमतिरूपता ।
सत्यं दया क्षमा शान्तिर्दाक्षिण्यं धर्मशालिता ॥३॥
जगत्संयमनं विश्वसंवादो वादपाटवम् ।
सभापाण्डित्यमौदार्यं गाम्भीर्यं ब्रह्मवर्चसम् ॥४॥
औन्नत्यं च कुलं शीलं प्रतापो वीर्यमार्यता ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं स्थैर्यं विश्वातिशायिता ॥५॥
धनधान्याभिवृद्धिश्च सकृदस्य जपाद् भवेत् ।
वश्यं चतुर्विधं नृणां जपादस्य प्रजायते ॥६॥

राज्ञो राजकलत्रस्य राजपुत्रस्य मन्त्रिणः ।
जप्यते यस्य वश्यार्थं स दासस्तस्य जायते ॥७॥
धर्मार्थकाममोक्षाणामनायासेन साधनम् ।
शाकिनीडाकिनीरक्षोयक्षोरगभयापहम् ॥८॥
साम्राज्यसुखदं चैव समस्तरिपुमर्दनम् ।
समस्तकलहध्वंसि दग्धबीजप्ररोहणम् ॥९॥
दुःस्वप्ननाशनं क्रुद्धस्वामिचित्तप्रसादनम् ।
षट्कर्माष्टमहासिद्धित्रिकालज्ञानसाधनम् ॥१०॥
परकृत्याप्रशमनं . परचक्रविमर्दनम् ।
सङ्ग्रामरङ्गे सर्वेषामिदमेकं जयावहम् ॥११॥
सर्ववन्ध्यात्वदोषघ्नं गर्भरक्षैककारणम् ।
पठ्यते प्रत्यहं यत्र स्तोत्रं गणपतेरिदम् ॥१२॥
देशे तत्र न दुर्भिक्षमीतयो दुरितानि च ।
न तद्गृहं जहाति श्रीर्यत्रायं पठ्यते स्तवः ॥१३॥
क्षयकुष्ठप्रमेहार्शभगन्दरविषूचिकाः ।
गुल्मं प्लीहानमश्मानमतिसारं महोदरम् ॥१४॥
कासं श्वासमुदावर्तं शूलं शोफादिसंभवम् ।
शिरोरोगं वमिं हिक्कां गण्डमालामरोचकम् ॥१५॥
वातपित्तकफद्वन्द्वत्रिदोषजनितज्वरम् ।
आगन्तु विषमं शीतमुष्णं चैकाहिकादिकम् ॥१६॥
इत्याद्युक्तमनुक्तं वा रोगं दोषादिसम्भवम् ।

सर्वं प्रशमयत्याशु स्तोत्रस्यास्य सकृज्जपः ।।१७।।

सकृत्पाठेन संसिद्धः स्त्रीशूद्रपतितैरपि ।
सहस्रनाममन्त्रोयं जपितव्यः शुभाप्तये ।।१८।।

महागणपतेः स्तोत्रं सकामः प्रजपन्निदम् ।
इच्छया सकलान्भोगाननुभूयेह पार्थिवान् ।।१९।।

मनोरथफलैर्दिव्यैर्व्योमयानैर्मनोरमैः ।
चन्द्रेन्द्रभास्करोपेन्द्रब्रह्मशर्वादिसद्मसु ।।२०।।

कामरूपः कामगतिः कामतो विचरन्निह ।
भुक्त्वा यथेप्सितान्भोगानभीष्टान्सह बन्धुभिः ।।२१।।

गणेशानुचरो भूत्वा महागणपतेः प्रियः ।
नन्दीश्वरादिसानन्दी नन्दितः सकलैर्गणैः ।।२२।।

शिवाभ्यां कृपया पुत्रनिर्विशेषं च लालितः ।
शिवभक्तः पूर्णकामो गणेश्वरवरात्पुनः ।।२३।।

जातिस्मरो धर्मपरः सार्वभौमोऽभिजायते ।
निष्कामस्तु जपन्नित्यं भक्त्या विघ्नेशतत्परः ।।२४।।

योगसिद्धिं परां प्राप्य ज्ञानवैराग्यसंस्थितः ।
निरन्तरोदितानन्दे परमानन्दसंविदि ।।२५।।

विश्वोत्तीर्णे परे पारे पुनरावृत्तिवर्जिते ।
लीनो वैनायके धाम्नि रमते नित्यनिर्वृतः ।।२६।।

यो नामभिर्हुनेदेतैरर्चयेत्पूजयेन्नरः ।
राजानो वश्यतां यान्ति रिपवो यान्ति दासताम् ।।२७।।

मन्त्राः सिध्यन्ति सर्वेऽपि सुलभास्तस्य सिद्धयः ।
मूलमन्त्रादपि स्तोत्रमिदं प्रियतरं मम ॥२८॥
नभस्ये मासि शुक्लायां चतुर्थ्यां मम जन्मनि ।
दूर्वाभिर्नामभिः पूजां तर्पणं विधिवच्चरेत् ॥२९॥
अष्टद्रव्यैर्विशेषेण जुहुयाद्भक्तिसंयुतः ।
तस्येप्सितानि सर्वाणि सिध्यन्त्यत्र न संशयः ॥३०॥

इदं प्रजप्तं पठितं पाठितं श्रावितं श्रुतम् ॥३१॥
व्याकृतं चर्चितं ध्यातं विमृष्टमभिनन्दितम् ।
इहामुत्र च सर्वेषां विश्वैश्वर्यप्रदायकम् ॥३२॥
स्वच्छन्दचारिणाप्येष येनायन्धार्यते स्तवः ।
स रक्ष्यते शिवोद्भूतैर्गणैरध्युष्टकोटिभिः ॥३३॥

पुस्तके लिखितं यत्र गृहे स्तोत्रं प्रपूजयेत् ।
तत्र सर्वोत्तमा लक्ष्मीः सन्निधत्ते निरन्तरम् ॥३४॥
दानैरशेषैरखिलैर्व्रतैश्च तीर्थै रशेषैरखिलैर्मखैश्च ।
न तत्फलं विन्दति यद्गणेशसहस्रनाम्नां स्मरणेन सद्यः ॥३५॥
एतन्नाम्नां सहस्रं पठति दिनमणौ प्रत्यहं प्रोज्जिहाने
सायं मध्यंदिने वा त्रिषवणमथवा सन्ततं वा जनो यः ॥
स स्यादैश्वर्यधुर्यः प्रभवति च सतां कीर्तिमुच्चैस्तनोति
प्रत्यूहं हन्ति विश्वं वशयति सुचिरं वर्धते पुत्रपौत्रैः ॥३६॥
अकिञ्चनोपि मत्प्राप्तिचिन्तको नियताशनः ।
जपेत्तु चतुरो मासान् गणेशार्चनतत्परः ॥३७॥

दरिद्रतां समुन्मूल्य सप्तजन्मानुगामपि ।
लभते महतीं लक्ष्मीमित्याज्ञा पारमेश्वरी ।।३८।।
आयुष्यं वीतरोगं कुलमतिविमलं संपदश्चार्तदानाः
कीर्तिर्नित्यावदाता भणितिरभिनता कान्तिरव्याधिभव्या ।।
पुत्राः सन्तः कलत्रं गुणवदभिमतं यद्यदेतच्च सत्यं ।
नित्यं यः स्तोत्रमेतत्पठति गणपतेस्तस्य हस्ते समस्तम्।।३९।।
गणञ्जयो गणपतिर्हेरम्बो धरणीधरः ।
महागणपतिर्लक्षप्रदः क्षिप्रप्रसादनः ।।४०।।
अमोघसिद्धिरमृतो मन्त्रश्चिन्तामणिर्निधिः ।
सुमङ्गलो बीजमाशापूरको वरदः शिवः ।।४१।।
काश्यपो नन्दनो वाचासिद्धो ढुण्ढिविनायकः ।
मोदकैरेभिरत्रैकविंशत्या नामभिः पुमान् ।।४२।।
यः स्तौति मद्गतमना मदाराधनतत्परः ।।
स्तुतो नाम्नां सहस्रेण तेनाहं नात्र संशयः ।।४३।।

नमो नमः सुरवरपूजिताङ्घ्रये
नमो नमो निरुपममङ्गलात्मने ।।
नमो नमो विपुलपदैकसिद्धये
नमो नमः करिकलभाननाय ते ।।४४।।

इति श्रीगणेशपुराणे उपासनाखण्डे महागणपतिप्रोक्तं
गणेशसहस्रनामस्तोत्रं सम्पूर्णम्

गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा का

संक्षिप्त परिचय

काशीस्थ श्री गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा की स्थापना आज से ५० वर्ष पूर्व हुई थी जिसका संक्षिप्त इतिवृत्त यहाँ दिया जाता है।

इस सभा को आरंभ में म० म० पं० नारायण शास्त्री खिस्ते महोदय पं० आत्माराम शास्त्री लोकरे स्व० पं० भाऊशास्त्रीजी वझे एवं पं० गोपीनाथ शास्त्रीजी द्राविड साहित्याचार्य एम० ए० प्रभृति लोगों ने उत्साह के साथ चलाया। क्रमेण प्रत्येक पक्ष में सभा का अधिवेशन होता रहा जिसमें काशी के विशिष्ट विद्वानों का एवं पं० गोविन्द शास्त्री पण्ढरपुरकर प्रभृति जैसे उत्साहियों का सहयोग प्राप्त होता रहा। कीर्तनाचार्य पं० रामचन्द्र बोवा महोदय ने संस्कृत में एक बार कीर्तन किया जिसमें म० म० शिवकुमार शास्त्री, म० म० तात्याशास्त्री, म० म० सुब्रह्मण्य शास्त्री, म० म० वामाचरण भट्टाचार्य आदि उपस्थित मान्य विद्वानों ने बड़ा ही सन्तोष अभिव्यक्त किया। इसी प्रकार प्रति दिन विद्वानों के सहयोग से सभा वृद्धिगत होने लगी।

अनन्तर साङ्गवेदविद्यालय की जब स्थापना हुई, तब धर्मप्राण श्री स्वर्गीय श्री लक्ष्मणशास्त्री जी द्राविड महोदय ने इस सभा को इसी विद्यालय में प्रवर्तित किया। तब से लेकर सभा ने अनेक सार्वलौकिक महत्त्व के कार्य श्री पं० राज राजेश्वर शास्त्री जी महोदय के संरक्षकत्व में बड़े-बड़े विद्वानों के सहयोग से किये हैं। जिसमें निम्नलिखित कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रसिद्ध ब्राह्मण महासम्मेलन में सार्वदेशिक प्रश्नों का विचार, और सभा में प्रचार। मठ मन्दिर के अधिकारियों के सार्वदेशिक प्रश्नों पर तत्सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का अन्वेषण, एवं ब्राह्मण महासम्मेलन संस्कृत पत्र में तत्सम्बन्धी लेखों का प्रकाशन। पण्ढरपुर मन्दिर में देवता को सकेशा विधवा के स्पर्श के सम्बन्ध में न्यायालय में शास्त्रीय निर्णय की साक्षि देने के लिए प्रश्न आने पर विधवा केशवपन विषयक लेख का अत्यन्त परिश्रमपूर्वक प्रकाशन। एवं धौलपुर स्टेट से विधवा विवाह के सम्बन्ध में श्री महाराज

काशीनरेश द्वारा समागत प्रश्नों पर सुविस्तृत निवन्ध निर्माण, जिसमें सभी प्रकार के विधवा विवाह शंकाओं के समाधान किये हैं और जो सिद्धान्त पत्र में प्रकाशित हुए हैं। बद्रीनारायण मन्दिर के रावल के सम्बन्ध में कमेटी के द्वारा समागत प्रश्न पर आगम शास्त्रानुसार रावल के सम्बन्ध में निर्णय। श्री १०८ काञ्ची शङ्कराचार्य महाराज के काशी आगमन के समय पर तत्पीठ सम्बन्धी अनेक महत्त्व के निर्णय। वर्तमान काशी महाराज के दत्तक ग्रहण के समय में तत्सम्बन्धी उपस्थित विचार पर निर्णय। मद्रास में जो प्रसिद्ध दो विद्वित्परिषद् 'वर्णाश्रम' स्वराज्य संघ के तत्त्वावधान में की गयी थी उनके तथा पूना में हिन्दूकोड सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार के लिए जो विद्वत्परिषद् हुई थी उनके लिए अपेक्षित समस्त विचारों का समालोचन। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जो पंचमहाभूत परिषद् एवं त्रिदोष चर्चा परिषद् हुई थी उसके लिए सर्व उपस्थित प्रश्नों पर सुदीर्घ विचार करते हुए दो निवन्ध तैयार किये गये जो उन परिषदों के विवरण में प्रकाशित हैं।

काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में सम्पन्न प्राच्यविद्या परिषद् की सभा में हिन्दू कोड के सम्बन्ध में उपस्थापित प्रश्नों पर सभा द्वारा विचार प्रस्तुत किये गये। साङ्गवेदविद्यालय की रजतजयन्ती के अवसर पर वेदापौरुषेयत्व विषय पर निवन्ध प्रस्तुत किया जो रजतजयन्ती पुस्तक में प्रकाशित है। कोचीन से समागत मन्दिर के सम्बन्धी प्रश्नों पर महत्त्वपूर्ण निर्णय, जिसका वहाँ प्रश्नकर्ताओं ने मुद्रित अभिनन्दन भेजा था जो विद्यालय में स्थापित है। गोमेध-सम्बन्धी अत्यन्त जटिल प्रश्न पर विस्तृत लेखमालायें एवं अन्तिम निवन्ध। वि० सं० वि० विद्यालय से सम्बद्ध भारतीय राजनीति कक्षा में आठ-नव वर्षों से भारतीय राजनीति पर गम्भीरता के साथ विचार, भारतीय राजनीति का पुनरुद्धार इत्यादि। इसके अतिरिक्त साधारणतया प्रश्न तो अगणित सभा के पास आये जिनका उत्तर यथा-समय सभा के द्वारा दिये गये हैं, एवं बराबर दिये जा रहे हैं।

किम्बहुना, सारडा कानून के निर्माणसे लेकर हिन्दू कोड के प्रसङ्ग तक ब्राह्मण सम्मेलन, वर्णाश्रम स्वराज्य संघ, विद्वत्परिषद् गुरुवायूर पण्ढरपुर इत्यादि स्थानों में मन्दिर प्रवेश के विरोधी सभाओं के नाम से, पूना इत्यादि स्थानों में अनेक

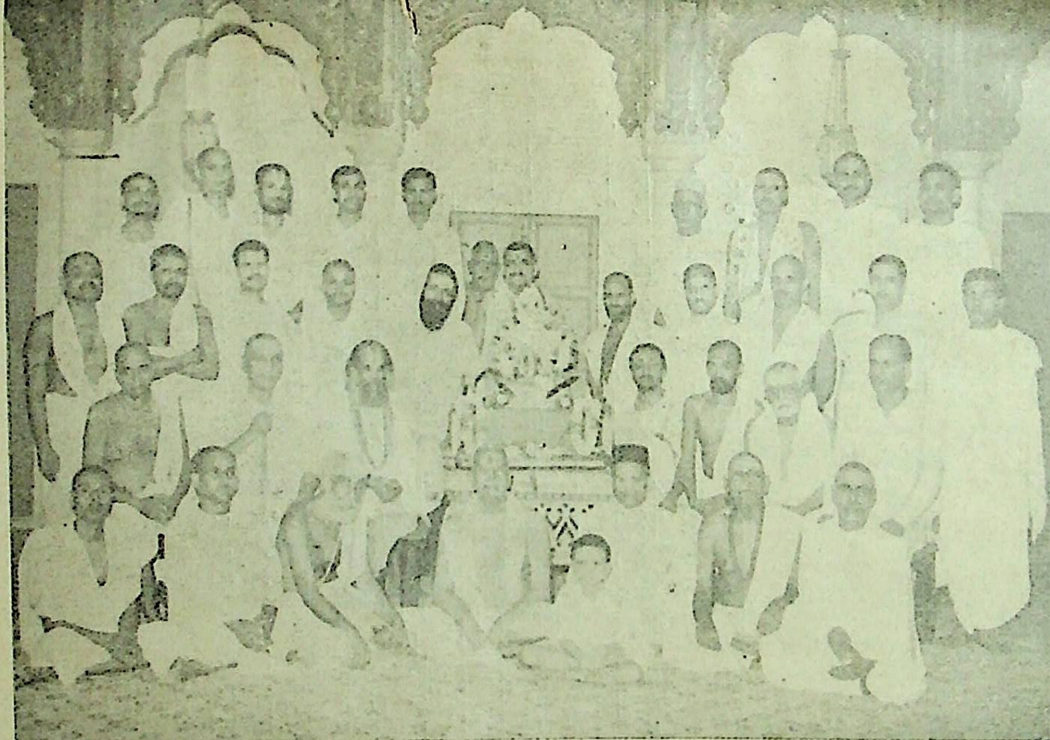
प्रश्नों के प्रचार सभा में किये गये उत्तरों के नाम से, मिसमिलर शुद्धि के विचार के नाम से, मन्त्रदीक्षा के अधिकार विचार के नाम से, कोड विरोधी सभा पुस्तक प्रकाशन आदि नामों से, जितने कुछ उद्योग वर्णाश्रम स्वराज्य संघ विद्वत्परिषद् के सम्बन्ध से हुए हैं। वे सब श्री गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा का कार्यविस्तार है। ये सब कार्य धर्मप्राण पू० श्री लक्ष्मणशास्त्री जी द्राविड महोदय के तथा पूज्य श्री पं० राज राजेश्वर शास्त्री जी के पथ-प्रदर्शन का विकास सभा को प्राप्त हुआ है।

सभा में अपेक्षानुसार पाक्षिकाधिवेशन साप्ताहिक अधिवेशन सत्तर्कप्रचारिणी वेदवेदाङ्ग सभा भारतीय राजनीति कक्षा आदि अनेक शाखाएँ कभी दो-दो मास प्रतिदिन विचार सभाएँ की जाती थीं और की जाती हैं।

इस प्रकार विचारकार्य के सिवाय अनेक विद्वानों का कीर्तनकारों का कलावन्तों का एवं गुणियों का गुणप्रदर्शन सभा में कराकर उनका आदर सम्भावित करना एवं भूकम्प इत्यादि विपदग्रस्त लोगों की सहायता में यथाशक्ति आर्थिक सेवा करना आदि कार्य भी सभा ने उस-उस अवसर पर किये हैं।

मन्त्री

गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा



गीर्वाण वाग्वर्धिनी सभा कार्यकारिणी समिति

श्री गीर्वाण वाग्वर्धिनी सभा सुवर्ण जयन्ती सं० २०१३

कार्यकारिणी समिति चित्र परिचय

प्रथम पंक्ति—बैठे हुए (बायें से)—सर्वश्री हरिराम शुक्ल, रामनाथ ज्यौतिषी, राजेश्वर शास्त्री द्राविड़, मुरारीलाल मेहता, शंकरलाल मेहता, वि० वि० देशपाण्डे, दुर्गादत्त वैद्य, ठाकुरप्रसाद द्विवेदी।

द्वितीय पंक्ति—सर्वश्री नीलकण्ठ ज्यौतिषी, म० म० नारायण शास्त्री खिस्ते, स्वामी देवनायकाचार्य, (श्री गणेश भगवान्) रामचन्द्र घनपाठी, अनन्तराम भट पटवर्धन, गणेश दीक्षित, रघुनन्दन प्रसाद शुक्ल "अटल"।

तृतीय पंक्ति—मुकुन्द पायगुण्डे, गणपतिशास्त्री हेब्बार, विश्वनाथ पाण्डेय वैद्य, प्रह्लाद खानवेलकर, आंगिरस शर्मा, मुकुन्दराव पाटले, रामदत्त पर्वतीय, भैरवनाथ पाण्डेय, विष्णु चितले, जनार्दनशास्त्री खुण्टे, वैकुण्ठराम झा····

चतुर्थ पंक्ति—विश्वनाथ शास्त्री दातार, रामचन्द्र होसम , सनकसनन्दन शर्मा ··············, वैजनाथ पुणतामकर, काशीनाथ बापट, गोपालराम जानी, जयराम शुक्ल, रामचन्द्र मण्डलीकर और उदयकृष्ण नागर।

परिशिष्टम्

श्री वल्लभराम शालिग्राम साङ्गवेद विद्यालयस्थितायाः

श्री गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभाया उद्देश्यानि नियमाश्च

प्रायो ४९ वर्षेभ्यःपूर्वं सभाया अस्याः संस्थापनं अभूत् ।'

यद्यपि विद्वज्जनाः एकाकिरूपेण तेषु २ विषयेषु विचारं कुर्वन्त्येव, तथापि सभायां सम्भूय क्रियमाणो विचारः अत्यन्तं महत्त्वपूर्णो विशेषतो दोषसम्भावनारहितश्च भवतीति मनसि निधायैव अस्या उपयोगित्वमनुभूतम् । मनुयाज्ञवल्क्यादिभिरपि—

रागद्वेषविहीनास्तु पञ्च सप्त त्रयोपि वा ।
यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा ॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥

इत्यादिवचनैः सभायाः पूर्वोक्तं उपकारकत्वं स्पष्टमेवास्त्यभिहितम् ।

उद्देश्यम्

धार्मिकाणां राजनैतिकानां सामाजिकानां अन्येषाञ्च तेषु२ समयेषु उपस्थितानां प्रश्नानां सम्यग्विचारविमर्शपूर्वकं समाधानान्वेषणं, अन्विष्टसमाधानानां यथासाधनं प्रचारणम् ।

सम्यग् विचारक्षमाणां विदुषां निर्माणम्
एतदुपयुक्तकार्यकरणञ्च अस्याः सभाया उद्देश्यम् ।

नियमाः

काशीस्थाः स्थानान्तरस्थिताश्च सर्वे विद्वांसः सभाया माननीयसदस्यत्वेन वृता भवितुमर्हन्ति । आर्थिकसहायताप्रदातारोऽस्याः सहायकसदस्यत्वेन स्वीकृता भविष्यन्ति ।

कायकारिणी सभा

अस्या निर्वाचनं वार्षिकाधिवेशने पूर्वकार्यकारिण्या करिष्यते।

अत्र संरक्षकः सभापतिः, उपसभापतिः, मन्त्री, उपमन्त्री, विशिष्टमध्यस्थाः, मध्यस्थः, लेखकः, आयव्ययनिरीक्षकः, कोषाध्यक्षः, विशिष्टसदस्याः अन्ये च साधारणसदस्याः भविष्यन्ति।

कार्यकारिणीसदस्यानामुपस्थितिः तेषु २ सभाधिवेशनेषु आवश्यकी भविष्यति। विशिष्टमध्यस्थस्योपस्थितिस्तु सत्यामावश्यकतायां मन्त्रिसूचनानुसारेण अवश्यमभिप्रेता भवेत्।

विचारनियमाः

तत्त्वनिर्णयमात्रमुद्दिश्यात्र विचाराणां क्रियमाणत्वात् निम्नलिखिताः विचारनियमाः सर्वैरेव विचारकैः परिपालनीया भविष्यन्ति।

१ शास्त्रपरिनिष्ठिताः त्रयः पञ्च सप्त वा मध्यस्था भविष्यन्ति।

२ सुयोग्यः कश्चन नियामकोऽपि भविष्यति, यस्याज्ञया प्रश्नकरणे उत्तरकरणे वा निर्दिष्टानामेवाधिकारः।

३ त्रयः पञ्च वा निरीक्षका अपि भविष्यन्ति यैः सभायां प्रवर्तमानविचारपद्धति विषये स्वाभिप्रायो निवेदितः स्यात् विचारस्योन्मार्गतावस्थायां नियामकस्य पुरतः सूचना च प्रदीयेत।

४ प्रश्नोत्तरयोरुभयोरपि लिखितबद्धयोः सङ्कलनं भविष्यति।

५ निर्वाचितवादिप्रतिवादिव्यतिरेकेण कस्यापि भाषणे नाधिकारः।

६ वादिप्रतिवादिनां मध्ये एकस्यैव यस्य कस्यापि भाषणेऽधिकारः, अनेन साकमस्यैवेति तु न व्यवस्था।

७ वादिप्रतिवादिव्यतिरेकेण तत्तन्मतावलम्बिनां दर्शकरूपेणैव प्रतिनिधीनामपि सतां निर्दिष्टस्थान एवोपवेशः।

८ वैषयिकदर्शिनां तु पृथक् स्थानप्रबन्धः।

९ निवन्धपर्यन्तधर्मग्रन्थप्रामाण्योरीकारेण मीमांसादृतपद्धत्यैव विचारो भवितुमर्हति ।

१० मीमांसापद्धतिसमादरोत्पादनाय प्रमाणशास्त्रोक्तपद्धत्यापि विचारोऽवलम्बितः स्यात् ।

११ प्रश्नोत्तरप्रणाल्येव विचारावसरेऽवलम्बनीया, न व्याख्यानप्रणाली ।*

*भारतवर्षीयाणामिव जिज्ञासूनां देशान्तरस्थितविदुषामपि यथासाध्यं विचारविमर्शप्रदानं सत्यामुपयुक्तपरिस्थितौ पूर्वोक्तेषु विषयेषु पूर्वोक्तरीतिमनुसृत्य सभया सङ्कल्पितमस्ति ।

वेद के अपौरुषेयत्वानुमान का स्वरूप (शान्ति का अग्रदूत पृ० १५)

"स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इत्यध्ययनविधिवाक्यप्रयोज्यशाब्दभावनाहेतुकेष्टसाधनत्वानुमितिरद्ययावद्धर्मानुष्ठातृनिष्ठा, स्वसजातीयोच्चारणसापेक्षोच्चारणकानुपूर्वीक—शब्दवृत्तिशाब्दभावनाहेतुका, प्रभुशक्तिसमृद्धपुरुषसमवेतशाब्दभावनाहेतुज्ञानाजन्यत्वे सति, शब्दाजन्ययथार्थज्ञानवत्पुरुषसमवेतप्रकृतेष्टसाधनताविषयकज्ञानजन्य—शब्दवृत्तिशाब्दभावनाहेतुज्ञानाजन्यत्वे सति, शाब्दभावनाहेतुज्ञानजन्यत्वात् । आयुर्वेदीयरसायनाद्यनुष्ठानगतप्रायश्चित्ताधीनपापनाशे इष्टसाधनत्वानुमितिरेतावत्कालपर्यन्तं बौद्धादिष्वपि समवेता, शाब्दभावनाज्ञानमात्रजन्या, न स्वविषयकयथार्थज्ञानवत्पुरुषसमवेतयथार्थज्ञानजन्यशाब्दभावनाज्ञानजन्या अलौकिकार्थत्वे सति यथार्थप्रवृत्तिजनकत्वात् । न प्रभुशक्तिसमृद्धनिष्ठशाब्दभावनाज्ञानजन्या स्वेच्छाधीनप्रवृत्तिजनकत्वात् । एतेन एतावत्कालपर्यन्तं पूर्वं जायमानायामनुमितौ स्वसजातीयोच्चारणसापेक्षोच्चारणकानुपूर्वीकशब्दवृत्तिभावनाजन्यत्वं सिद्धम् । इदानींतनानामनुमित्यभावेऽपि न क्षतिः । इदानींतनोच्चारणस्य स्वसजातीयोच्चारणसापेक्षतायाः प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति निष्कर्षः ॥

इसका सारांश यही है कि पुराण वाङ्मय निर्माण के अनन्तर बौद्धयुग के प्रारम्भ से दार्शनिक ग्रन्थों का यद्यपि उद्भव बहुकाल के बाद हुआ, तथापि आयुर्वेद

परम्परा का बौद्धों ने यथावत् रक्षण किया और आयुर्वेद के ग्रन्थ भी निर्माण किये। उन ग्रन्थों में वैदिक धर्म की आवश्यकता चिकित्सा प्रयोग में दृढ़ता के साथ निरूपित है। एवं वे लोग उसका अनुसरण भी करते थे। अतएव चार्वाकों ने नीति काम-शास्त्र के अनुसार आचरण करने को धर्म का लक्षण कहा है। इस इतिहास के आलोचन से उपर्युक्त अनुमान प्रणाली उपस्थित होती है। इसका अर्थ तो तार्किकों के साहाय्य से अवगत हो सकेगा। संक्षेप के लिए उपन्यास मात्र किया है।

आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्ताः सतीर्विद्याः प्रचक्षते।
सत्योपि हि न सत्यस्ता दण्डनीतेस्तु विभ्रमे॥